दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९३ तंत्री–जगजीवन बाउचंद दोशी, सावरकुंडला वर्ष २३ अंक नं० ३

अकेला चल रे.....

सर्वज्ञदेव कथित ऐसे अमृतपथरूप मोक्षमार्ग में स्थित सम्यग्दृष्टि कदाचित् अकेला ही हो तो वह अकेला भी सुशोभित एवं प्रशंसनीय है। सम्यग्दृष्टि को भले ही कदाचित् बाह्य प्रतिकूलता हो, तथापि उसके अंतर में चैतन्यानंद की लहर है; पूर्वकर्म का प्रतिकूल उदय उसे डिगा नहीं सकता। प्रतिकूलता के उदय में भी सम्यग्दृष्टि जीव मोक्षमार्ग में सुशोभित होता है। इसलिये कहते हैं कि हे जीव! भले ही पापकर्म का उदय हो, तथापि तू सम्यक्त्व की आराधना में निश्चल रह... सम्यक्त्व द्वारा अकेले–अकेले ही अपने स्वकार्य को साध... पाप कर्म का उदय हो तो उससे कहीं सम्यक्तव का मूल्य नहीं घट जाता, उल्टी पापकर्म की निर्जरा होती जाती है। जगत में दूसरे विपरीत दृष्टिवाले भले ही साथ न दें, तथापि सम्यग्दृष्टि अकेला–अकेला मोक्ष के मार्ग में आनंदपूर्वक चला जाता है। जिसप्रकार वन में वनराज सिंह अकेला ही शोभा देता है; उसीप्रकार संसार में चैतन्य का राजा सम्यग्दृष्टि अकेला भी शोभायमान होता है। इसलिये हे जीव! जगत में किसी का साथ न हो, तब भी सम्यग्दर्शन द्वारा मोक्षमार्ग में अकेला–अकेला चला जा..... ।

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

जुलाई १९६७] वार्षिक मूल्य ३) (२६७) एक अंक २५ पैसा [अषाढ़ सं० २०२४

विषय-सूची

१- संसार समुद्र से पार होने की कला

२- आत्महिताभिलाषी का प्रथम कर्तव्य तत्त्वनिर्णय

३- अमृत के कलश से आत्मा का अभिषेक

४- परभावों की मेटनशील ज्ञान ज्योति

५- विविध वचनामृत

६- विराग

७- मोह नींद से जाग

८- संसार का मूल कारण

९- लाख बात की बात

१०- श्रावक धर्म की अच्छी अच्छी बातें

११- तत्त्व-चर्चा

१२- प्रवचन वत्सलत्व

१३- अनुभव की प्रेरणा

१४- स्वरूप को साधने का उत्साह

१५- वचनामृत अपने लिये ही

१६- प्रभु का भजन क्यों नहीं रुचता

१७- निर्विकल्प अनुभव

१८- मुमुक्षु की जीवन-भावना

१९- ऐसा योगी क्यों न अभय पद पावै

२०- समाचार संग्रह

१०१) रुपये देकर आत्मधर्म के आजीवन सभ्य होनेवालों की नामावली

(८) श्री प्रेमचंदजी जैन, दिल्ली

(९) श्री दिगम्बर जैन मंदिर
श्री मुरलीधर सेठ झुमरीतलैया,
जिला हजारी बाग

(१०) झुमरमलजी पांड्या, श्री शिखरीलाल
भंवरलाल जैन, पो० गोहाटी (आसाम)

(११) भंवरलालजी जैन, श्री सरावगी
ट्रेडिंग कं०, गोहाटी (आसाम)

(१२) श्री नेमीचंदजी जैन, श्री रामेश्वर
भागचंद कं०, गोहाटी (आसाम)

(१३) श्री कैलाशचंद प्रेमचंद जैन
पो० भिण्ड (म०प्र०)

नोट-१०१) रुपये के स्थायी सदस्य बनने से फिर वार्षिक मूल्य नहीं देना पड़ता है। आप भी स्थायी सदस्य बनकर धर्म प्रचार में सहयोगी बन सकते हैं।

पता—दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
पो० सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सोनगढ़ (सुवर्णपुरी) समाचार

परमोपकारी पूज्य स्वामीजी सुख-शांति से विराजमान हैं। प्रवचन में सवेरे श्रावकाचार-पुरुषार्थ सिद्धि उपाय तथा दोपहर समयसारजी चलते हैं।

श्रुतपंचमी पर्व जेष्ठ सुदी ५ आनंद-उत्साह सहित मनाया गया, जिनवाणी-शास्त्र, षट्खंडागमादि पालकी में विराजमान करके जुलूस निकाला गया था।

जिनवाणी आगम मंदिर नामक सुंदर सरस्वती भवन बनकर तैयार हो गया है, भाद्र सुदी ४ के दिन उनका उद्घाटन होगा।

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

संपादक : (१) श्री ब्र० हरिलाल जैन, (२)श्री ब्रह्मचारी गुलाबचंद जैन

जुलाई : १९६७ ☆ वर्ष २३वाँ, आषाढ़, वीर नि०सं० २४९३ ☆ अंक : ३

संसार समुद्र से पार होने की कला

दूसरी चाहे जितनी कलाएँ सीख ले, परंतु आत्मा के स्वानुभव की कला जबतक न सीखे, तबतक वह भव-समुद्र से पार नहीं हो सकता; स्वानुभव ही भवसमुद्र से पार होने की कला है। उस कला को जो नहीं जानता, वह दूसरी अनेक कलाएँ जानता हो, तथापि संसार-समुद्र में डूबता है; और जिसने एक स्वानुभव की कला जान ली, वह जीव भले ही कदाचित् दूसरी एक भी कला नहीं जानता हो, तथापि संसार-समुद्र से पार हो जाता है। इसलिये संतों का उपदेश है कि हे जीवों! यदि तुम इस दु:खमय संसार समुद्र से पार होना चाहते हो तो अन्य सर्व कलाओं का महत्व छोड़कर इस स्वानुभवकला का महत्व समझो और उसका उद्यम करो। स्वानुभवकला की यह बात स्पष्ट समझाने के लिए ऊपर एक चित्र दिया गया है; तत्संबंधी विस्तृत प्रवचन द्वारा भवसमुद्र को पार करने की कला का स्वरूप समझने के लिये 'आत्मधर्म' के अगले अंक देखें।

आत्महिताभिलाषी का प्रथम कर्तव्य

तत्त्व-निर्णय

तत्त्वनिर्णयरूप धर्म तो बाल, वृद्ध, रोगी, निरोगी, धनवान, निर्धन, सुक्षेत्री तथा कुक्षेत्री आदि सर्व अवस्थाओं में प्राप्त होने योग्य है, इसलिये जो पुरुष अपने हित का अभिलाषी है, उसे सर्वप्रथम यह तत्त्वनिर्णयरूप कार्य ही करना योग्य है।

(शार्दूलविक्रीडित)

न क्लेशो न धनव्ययो न गमनं देशान्तरे प्रार्थना
केषांचिन्न बलक्षयो न तु भयं पीड़ा न कस्माश्च न।
सावद्यं न न रोग जन्मपतनं नैवान्य सेवा नहि
चिद्रूपं स्मरणे फलं बहुतरं किन्नाद्रियन्ते बुधाः॥

[तत्त्वज्ञानतरंगिणी]

अर्थ—चिद्रूप (ज्ञानस्वरूप) आत्मा का स्मरण करने में न तो क्लेश होता है, न धन का व्यय होता है, न देशांतर में जाना पड़ता है, किसी के पास प्रार्थना नहीं करना पड़ती, शक्ति का क्षय नहीं होता; किसी की ओर से भय या पीड़ा नहीं होती; तथा वह सावद्य (पाप कार्य) नहीं है, उससे रोग या जन्म-मरण में पड़ना नहीं होता; न किसी की सेवा करना पड़ती है—ऐसी किसी भी कठिनाई के बिना ज्ञानस्वरूप आत्मा के स्मरण का अत्यंत फल है, तो फिर बुद्धिमान पुरुष क्यों उसका आदर नहीं करते ?

तथा जो तत्त्वनिर्णय के सन्मुख नहीं हुए हैं। उन्हें जागृत करने के लिए उलहना देते हैं कि:—

साहीणे गुरुजोगे जेण सुणंतीह धम्मवयणाइं।
ते धिट्ठ दुट्ठचित्ता अह सुहडा भवभय विहुणा॥

अर्थ—गुरु का योग स्वाधीन होने पर भी जो धर्म वचनों को नहीं सुनते, वे ढीठ एवं दुष्टचित्तवाले हैं अथवा वे भवभयरहित सुभट हैं;—जिस संसार से तीर्थंकरादि डरे, उससे वे नहीं डरते।—ऐसा कहकर उन पर कटाक्ष किया है।

जो शास्त्राभ्यास द्वारा तत्त्वनिर्णय तो नहीं करते और विषय-कषाय के कार्यों में ही मग्न हैं, वे तो अशुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि हैं; तथा जो सम्यग्दर्शन के बिना पूजा, दान, तप, शील, संयमादि व्यवहार धर्म में (शुभभाव में) मग्न हैं, वे शुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि हैं। इसलिये भाग्योदय से जो मनुष्य पर्याय को प्राप्त हुए हैं, उन्हें तो सर्व धर्म का मूल कारण सम्यग्दर्शन, तथा उसका मूल कारण तत्त्वनिर्णय तथा उसका मूल कारण सत्समागम एवं शास्त्राभ्यास-वह अवश्य करने योग्य है।

जो ऐसे अवसर को व्यर्थ गँवाते हैं, उन पर बुद्धिमान करुणा करके कहते हैं कि:—

प्रज्ञैव दुर्लभा सुष्ठु दुर्लभा सान्यजन्मने।
तां प्राप्य ये प्रमाद्यन्ति ते शोच्याः खलु धीमताम्॥

अर्थ—प्रथम तो संसार में बुद्धि का होना ही दुर्लभ है, और परलोक के अर्थ बुद्धि का होना तो अतिदुर्लभ है; ऐसी बुद्धि प्राप्त होने पर भी जो प्रमाद करते हैं, उन जीवों के संबंध में ज्ञानियों को चिंता होती है।

यह दुर्लभ मनुष्यजन्म पाकर जिसे सच्चा जैनी होना है, उसे तो सत्समागम और शास्त्र के आश्रय से तत्त्वनिर्णय करना योग्य है; परंतु जो तत्त्वनिर्णय तो नहीं करता और पूजा, स्तोत्र, दर्शन,त्याग, तप, वैराग्य, संयम, संतोष आदि समस्त कार्य करता है, उसके यह सर्व कार्य असत्य हैं, उससे मोक्ष नहीं है। इसलिये सत्समागम से आगम का सेवन, युक्ति का अवलंबन, परंपरा गुरुओं का उपदेश एवं स्वानुभव द्वारा तत्त्वनिर्णय करना योग्य है। जिनवचन तो अपार है, उसका पूरा पार तो श्रीगणधरदेव भी नहीं पा सके। इसलिये जो मोक्षमार्ग की प्रयोजनभूत रकम है, वह तो निर्णयपूर्वक अवश्य जाननेयोग्य है। कहा है कि:—

अन्तो णत्थि सुईणं कालो थोओवयं च दुम्मेहा।
तं णवर सिक्खियव्वं जिं जरमरणक्खयं कुणहि॥

अर्थ—श्रुतियों का अंत नहीं है, काल थोड़ा है और बुद्धि अल्प है; इसलिये हे जीव! तुझे वह सीखनेयोग्य है कि जिससे तू जन्म-मरण का नाश कर सके।

आत्महित के लिये प्रथम सर्वज्ञ का निर्णय

हे जीवो! यदि तुम्हें अपना भला करना है तो सर्व आत्महित का मूलकारण जो आप्त, उसके सच्चे स्वरूप का निर्णय करके ज्ञान में लाओ। क्योंकि सर्व जीवों को सुख प्रिय है, सुख

भावकर्मों के नाश से होता है; भावकर्मों का नाश सम्यक्चारित्र से होता है; सम्यक्चारित्र; सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक होता है; सम्यग्ज्ञान आगम से होता है; आगम किसी सर्वज्ञ-वीतराग पुरुष की वाणी से उत्पन्न होता है। इसलिये जो सत्पुरुष हैं, उन्हें अपने कल्याण के अर्थ सर्व सुख का मूलकारण जो आप्त-अर्हत-सर्वज्ञ परमात्मा, उनका युक्तिपूर्वक भलीभाँति सर्वप्रथम निर्णय करके आश्रय लेना योग्य है। अब, जिनका उपदेश सुनते हैं, जिनके कहे हुए मार्ग पर चलना चाहते हैं, जिनकी सेवा-पूजा, आस्तिक्यपना, जाप, स्मरण, स्तोत्र, नमस्कार तथा ध्यान करते हैं—ऐसे जो अरिहंत सर्वज्ञदेव, उनका प्रथम अपने ज्ञान में स्वरूप तो भासित ही नहीं हुआ है, तो तुम निश्चय किये बिना किसका सेवन करते हो? लोक में भी ऐसी पद्धति है कि अत्यंत निष्प्रयोजन बात का भी निर्णय करके प्रवर्तते हैं; और तुम आत्महित के मूल आधारभूत जो अरिहंतदेव, उनका भी निर्णय किये बिना ही वर्तते हो, तो यह महान आश्चर्य है!

तथा तुम्हें निर्णय करने योग्य ज्ञान भी प्राप्त हुआ है, इसलिये तुम इस अवसर को व्यर्थ न गँवाओ। आलस्य आदि छोड़कर उसके निर्णय में अपने को लगाओ कि जिससे तुम्हें वस्तु का स्वरूप, जीवादि का स्वरूप, स्व-पर का भेदविज्ञान, आत्मा का स्वरूप, हेय-उपादेय और शुभ-अशुभ-शुद्ध अवस्थारूप अपने पद-अपद का स्वरूप—इन सबका सर्वप्रकार से यथार्थ ज्ञान हो। सर्व मनोरथ सिद्ध करने का उपाय जो अरहंत-सर्वज्ञ का यथार्थ ज्ञान, वह जिसप्रकार से सिद्ध हो, वह प्रथम करने योग्य है। इसप्रकार सर्वप्रथम अरहंत-सर्वज्ञ का निर्णय करनेरूप कार्य करना, वह श्रीगुरु की मूल शिक्षा है।

सच्चा ज्ञान सम्यग्दृष्टि को होता है

अपने-अपने प्रकरण में अपने-अपने ज्ञेय-सम्बन्धी अल्प या विशेष ज्ञान सबको होता है, क्योंकि लौकिक कार्य तो सभी जीव जानकारी पूर्वक ही करते हैं, इसलिये लौकिक जानकारी तो थोड़ी या बहुत हो ही रही है; परंतु मोक्षमार्ग में प्रयोजनरूभूत जो आप्त, आगम आदि पदार्थ, उनका सच्चा ज्ञान सम्यग्दृष्टि को ही होता है, तथा सर्व ज्ञेय का ज्ञान केवली भगवान को ही होता है, ऐसा जानना।

जिनमत की आज्ञा

कोई कहता है कि-सर्वज्ञ की सत्ता (अस्तित्व) का निश्चय हमसे न हो सका तो क्या हुआ? वे देव तो सच्चे हैं न? इसलिये पूजनादि करना निष्फल थोड़े ही जाता है?

उत्तर—यदि तुम्हारी किंचित् मंदकषायरूप परिणति होगी तो पुण्यबंध तो होगा; परंतु जिनमत में तो देवदर्शन से आत्मदर्शनरूप फल का होना कहा है, वह तो नियम से सर्वज्ञ की सत्ता जानने से ही होगा, अन्य प्रकार से नहीं होगा। यही श्री प्रवचनसार गाथा ८० में कहा है। 'जो जीव श्री अरहंत का स्वरूप द्रव्य-गुण और पर्यायरूप से जानकर अपनी आत्मा को जानता-अनुभव करता है, उसका मोह नष्ट होता है।'

तुम लौकिक कार्यों में तो ऐसे चतुर हो कि वस्तु की सत्ता आदि का निश्चय किये बिना किंचित् नहीं वर्तते; और यहाँ तुम सत्ता का निश्चय भी न करके पागल अनध्यवसायी (निर्णय रहित) होकर वर्तते हो, यह महान आश्चर्य है। 'श्लोकवार्तिक' में कहा है कि-जिसकी सत्ता का ही निश्चय नहीं हुआ, उसका परीक्षावान द्वारा किसप्रकार स्तवन करने योग्य है ? इसलिये तुम सर्व कार्यों से पूर्व अपने ज्ञान में सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध करो, वही धर्म का मूल है, तथा यही जिनमत की आम्नाय है।

आत्मकल्याण के अभ्यासी से आग्रह

जिसे आत्मकल्याण करना है, उसे जिनवचनरूप आगम का सेवन, युक्ति का अवलंबन, परंपरा गुरु का उपदेश, तथा स्वानुभव-यह कर्तव्य है। प्रथम प्रमाण, नय, निक्षेप आदि उपाय से जिनवचन की सत्यता का अपने ज्ञान में निर्णय करना चाहिये। गम्यमान हुए सत्यरूप साधन के बल से उत्पन्न हुआ जो अनुमान, उससे सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध करके; उसके श्रद्धान, ज्ञान, दर्शन, पूजन, भक्ति, स्तोत्र एवं नमस्कारादि करनेयोग्य हैं।

जिनेन्द्रदेव का सेवक जानता है कि मेरा भला-बुरा अपने परिणामों से ही होता है, परद्रव्यादि से नहीं होता। ऐसा समझकर वह अपने हित के उद्यम में प्रवर्तता है तथा अशुद्ध कार्यों को छोड़ता है। जिसे जिनदेव का सच्चा सेवक होना हो तथा जिनदेव द्वारा उपदेशित मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करना हो, उसे सबसे पहले जिनदेव के सच्चे स्वरूप का अपने ज्ञान में निर्णय करके उसका श्रद्धान करना कर्तव्य है।

अमृत के कलश से आत्मा का अभिषेक

वाह, समयसार-कलशों में तो आचार्यदेव ने स्वानुभवरूपी अमृत का जल भर-भरकर भगवान आत्मा को नहलाया है। शुद्ध वस्तु का अनुभव बतलाकर अमृतचन्द्राचार्यदेव ने अमृत उड़ेला है। एक सूक्ष्म विकल्प का भी जिसमें मिश्रण नहीं, ऐसा शुद्धात्मस्वभाव शुद्धनय द्वारा अनुभव में आता है। हे जीव! समस्त विकल्प छोड़कर ज्ञान द्वारा तू ऐसा अनुभव कर; ऐसा संतों का उपदेश है। यह उपदेश ग्रहण कर वीरतावाला जीव सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा उसको अनुभवता है।

आत्मस्वभावंपरभावभिन्नं, आपूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं, प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति॥१०॥

दिव्यध्वनि में जो शुद्धात्मा का स्वरूप सुना, गुरु परम्परा से अनुग्रहपूर्वक शुद्धात्मा का जो उपदेश मिला, और स्वयं प्रचुर स्वसंवेदनरूप स्वानुभव से शुद्धात्मा का जो अनुभव किया, उस समस्त निज-वैभव से कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने 'समयसार' में शुद्ध चैतन्य दिखाया है और अमृतचन्द्राचार्यदेव ने उसकी टीका कर इस शुद्धात्म रस से अमृत घोला है.... वीरतावाले जीव को यह पचे ऐसा है। वीरता अर्थात् स्वभाव तरफ के वीर्योल्लासवाला जीव इस शुद्धात्मा की बात को सुनते ही असंख्य प्रदेश में... पुरुषार्थ से उल्लसित हो जाता है, और जिसमें शुभाशुभ विकल्प से जुदा पड़ने का वीर्य नहीं, वह शुद्धात्मा तरफ के वीर्योल्लासवाला नहीं। वह तो ऐसी शुद्धात्मा के अनुभव की बात को हृदय में झेल नहीं सकता। अरे, 'अभी आत्मा शुद्ध हो! अभी आत्मा अबद्ध हो!' ऐसा संदेह करता हुआ वह पुरुषार्थहीनता में अटक जाता है; और वीरतावाला जीव तो विकल्प से पार होकर शुद्धस्वभाव में प्रवेश कर सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा उसको अनुभव करता है।

अपनी शुद्धस्वरूप जीववस्तु को अनुभव में लेकर शुद्धनय प्रकाशमान होता है। जीववस्तु आदि-अंत से रहित है। शुद्ध जीववस्तु का अनुभव होते ही संकल्प-विकल्प का जाल विलय हो जाता है। रागादि में एकत्वरूपी संकल्प और पर के साथ कर्तृत्व, ममत्वरूप अनेक विकल्प स्वानुभव होते ही छूट जाते हैं। ऐसे अभेद शुद्ध वस्तुस्वरूप को जो सूचित करे-अनुभव में ले, वह शुद्धनय है, वही सम्यक्त्व है।

अरे जीव! तू ऐसा परमात्मस्वरूप होकर उस निजस्वरूप को शुद्धनय द्वारा तूने कभी देखा नहीं। 'आपूर्ण' अर्थात् समस्त प्रकार पूर्ण ऐसा स्वयं का आत्मा है। वह संकल्प-विकल्प द्वारा अनुभव में नहीं आता; उसका अनुभव होते ही तो समस्त संकल्प-विकल्प छूट जाते हैं। इसप्रकार स्वानुभव में आता आत्मा निजगुणों से परिपूर्ण और संकल्प-विकल्पों से रहित है।

अरे जीव! अपने स्वतत्त्व को भूलकर अनंत काल से तू 'परभाव' के रास्ते भूल गया। लेकिन तेरी शुद्ध जीववस्तु तेरे में ही है, शुद्धनय द्वारा उसको देख। यह आत्मा का निजभाव है; शुद्धनय भी आत्मा का निजभाव है। शुद्धनय से स्वयं के शुद्धात्मा को अनुभव कर। आचार्यदेव सारे जगत् को कहते हैं कि तुम भी भ्रान्ति को छोड़कर ऐसे शुद्धात्मा को अनुभवो। स्वसन्मुख होकर ऐसा अनुभव करो। परभावों के दुःख में अनंत काल बीता, अब एक क्षण भी इसमें न गँवाओ और 'स्वभाव' को अनुभव करने का अभ्यास करो।

प्रश्न—ऐसा अनुभव करने का साधन क्या?

उत्तर—इसका साधन कहीं बाहर में नहीं, स्वयं का श्रुतज्ञान ही इसका साधन है।

जहाँ श्रुतज्ञान अंतरंग में झुका, वहाँ ऐसा अनुभव होता है। 'शुद्धनय' कहो अथवा 'भाव-श्रुतज्ञान' कहो, वही स्वानुभव का साधन है। स्वानुभव का साधन स्वानुभव से अभिन्न है; स्वानुभव से भिन्न नहीं।

अहो, इस स्वानुभव की ऐसी बात..... उसे समझकर संतों ने पंचम काल में अमृत सींचा है। इस 'समयसार' द्वारा शुद्धनयरूपी अमृत के कलश भर-भरकर अमृतचंद्राचार्यदेव ने भगवान शुद्ध आत्मा का अभिषेक किया है। स्वानुभूति द्वारा ऐसा अभिषेक करने से आत्मा पवित्र होती है, अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है।

दुःखी

'मेरा सुख पर में है' ऐसी जिसकी बुद्धि है, वह जीव, भले उसके पास करोड़ों रुपया हों और मेवा, रसगुल्ला खाता हो तथा सोने का हिंडोला झूलता हो, तो भी आकुलता से दुःखी ही है। आनंदधाम ऐसे 'स्वतत्त्व' की महिमा छोड़कर 'पर' की महिमा की, वही दुःख है।

[सुखशक्ति के प्रवचन में से]

निज स्वरूप की अनुभवनशील तथा परभावों की मेटनशील ऐसी ज्ञानज्योति

जो ज्ञानज्योति प्रगट होने पर आत्मा में मोक्षमार्ग का अपूर्व प्रकाश प्रगट होता है और अनादिकालीन अज्ञान-अन्धकार नष्ट होता है, वह ज्ञानज्योति कैसी है? निजस्वरूप की ज्ञातृत्वशील एवं परभावों की मेटनशील ऐसी उस ज्ञानज्योति का यह वर्णन है। भेदज्ञान का अभ्यास करने के विचार कैसे होते हैं, वह भी इसमें बतलाया है।

[श्री समयसार कलश-टीका-प्रवचन, कलश ४६-४७]

यह कर्ता कर्म अधिकार है। आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है; उस स्वभाव का सच्चा कार्य क्या? उसे भूलकर अज्ञानी विभाव के साथ के कर्ताकर्म की बुद्धि से संसार में भटकता है। कर्ताकर्म संबंधी भ्रम दूर हो तो विकार से भिन्न ज्ञानभावरूप परिणमित हो, जिससे संसार टले और मोक्ष हो। यह बात आचार्यदेव इस अधिकार में समझाते हैं।

भाई, तू तो ज्ञान है। ज्ञान को पर के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है और आस्रवतत्त्व अर्थात् क्रोधादि के साथ भी ज्ञान को कर्ताकर्मपना नहीं है। क्रोध और ज्ञान को भिन्न करती हुई ज्ञानज्योति प्रगट होती है, वह ज्ञानज्योति परभाव के साथ के कर्ताकर्मभाव को दूर करती है। 'यह क्रोधादि मेरा कर्म और ज्ञानस्वरूप मैं उसका कर्ता'—ऐसी ज्ञान और क्रोध के बीच की जो कर्ताकर्म की बुद्धि है, वह अज्ञान से ही है। कर्ता और कर्म एकमेक होते हैं, भिन्न नहीं होते। अब, जिसने ज्ञान और क्रोध में कर्ताकर्मपना माना, उसने ज्ञान और क्रोधादि परभावों को एकमेक माना है, भिन्न नहीं जाना; तो वह परभाव के कर्तृत्व से कब छूटेगा? जो परभाव को पकड़ेगा, उसके परभाव दूर नहीं होंगे और स्वभाव के निर्मलभाव प्रगट नहीं होंगे, इसलिये धर्म नहीं होगा।

परंतु धीर और उदार ऐसी सम्यग्ज्ञान-ज्योति ज्ञान और क्रोधादिक को अत्यंत भिन्न जानती है; परभाव के अंशमात्र को ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होने देती। ऐसी ज्ञानज्योति मंगलरूप है। यह ज्ञानज्योति स्वकार्य को बराबर जानती है, परंतु परभावरूप कार्य को वह किंचित्मात्र नहीं

करती। वह ज्ञानज्योति ज्ञातृत्वशील है और परभाव की मेटनशील है। मिथ्यात्वजनित जो कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है, उसे ज्ञानज्योति सर्वप्रकार से अत्यंत दूर करती है।

अभी तो, आत्मा कर्ता और जड़ उसका कार्य, शरीर और कर्म को आत्मा करता है—इसप्रकार पर के साथ आत्मा का कर्ताकर्मपना मानता है, उसे तो जड़-चेतन की भिन्नता का भी भान नहीं है। ऐसे जीव तो अज्ञानअंधकार में पड़े हैं, भिन्न-भिन्न वस्तु को वे नहीं देख सकते।

सर्वज्ञ परमात्मा ने वस्तुस्वरूप देखा और जिसका उपदेश दिया, उसी का उपदेश संत करते हैं कि—हे जीव! चिद्रूपशक्ति तेरे आत्मा में विद्यमान है, वही प्रगट होती है। प्रत्येक आत्मा सदा ज्ञानशक्ति से परिपूर्ण है; परंतु उस स्वभाव की महिमा लाकर उसे अनुभव में ले, तब आत्मा निजस्वरूप का अनुभवनशील हो और तभी जीव-कर्म की एकत्वबुद्धि छूटे; इसलिये मिथ्यात्व छूटे और ज्ञानज्योति प्रकाशमान हो। ऐसा जो ज्ञान उदय को प्राप्त हुआ, वह ज्ञान मिथ्यात्वादि परपरिणति को उखाड़ देता है और भेद के अनुभवरूप समस्त विकल्पजाल को तोड़ डालता है।

एक द्रव्य में तो परिणामी और परिणाम—ऐसे दो भेद डालकर उपचार से कर्ताकर्मपना कहा जाता है; एक वस्तु में भेद डालकर कर्ताकर्मपना कहा, इसलिये उसे उपचार कहा; परंतु इसप्रकार परद्रव्य के साथ तो उपचार से भी आत्मा को कर्ताकर्मपना नहीं है, क्योंकि दोनों में एक वस्तुपना नहीं है।

कर्ता-कर्मपना वहीं होता है, जहाँ व्याप्य-व्यापकपना होता है।

व्याप्य-व्यापकपना उन्हीं के होता है, जिनके एक वस्तुपना होता है।

भिन्न वस्तुओं में व्याप्य-व्यापकपना या कर्ता-कर्मपना कभी नहीं होता।

यहाँ तो एक वस्तु में भी कर्ता और कर्म ऐसे दो भेद डालना, सो उपचार है, वहाँ पर के साथ कर्ताकर्म की क्या बात?

ज्ञानस्वरूप ऐसा मैं कर्ता और क्रोधादि मेरा कार्य—ऐसी जो अपने में ज्ञान और क्रोधादि के बीच की एकत्वबुद्धिरूप कर्ता-कर्म की बुद्धि, वह भी जहाँ मिथ्यात्व है, वहाँ बाह्य कार्यों के कर्तृत्व की तो बात ही क्या? जीव जहाँ ज्ञानी हुआ कि तुरंत उसे वह कर्ताकर्म की मिथ्याबुद्धि दूर हुई और परभाव का अकर्ता होकर ज्ञानभावरूप परिणमित हुआ; उसके आत्मा में जगमगाता हुआ भेदज्ञान सूर्य उदित हुआ।

भेदज्ञानरूपी सूर्य महा बलवान है, उसे विकल्पों का सहारा नहीं है, वह ज्ञानसूर्य निज प्रकाश द्वारा कर्तृत्व के मिथ्यात्व अंधकार को छेद डालता है। राग का तो वह भेदन करनेवाला है, तो राग उसका सहायक कैसे होगा ?

मोक्ष का कारण भेदज्ञान है।

बंध का कारण भेदज्ञान का अभाव अर्थात् परभाव में एकत्वबुद्धि का सद्भाव ही है, इसलिये क्रोधादि के साथ कर्ताकर्म की बुद्धिरूप मिथ्यात्व ही बंध का मूल कारण है।

अब, मोक्ष के कारणरूप भेदज्ञान कैसे होता है ? और भेदज्ञानी के विचार कैसे होते हैं ? वह बतलाते हैं। मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा अपने स्वरूप में ही व्याप्त रहनेवाला हूँ, और परवस्तु के साथ मुझे कोई संबंध नहीं है। 'मैं ज्ञानमात्र भाव हूँ'—ऐसा स्वरूप का विचार करके अपनी ओर ढलने से परभावों से भिन्नतारूप भेदज्ञान होता है।

एक वस्तु में कर्ता और कर्म ऐसे दो भेद डालना भी जहाँ शुद्ध दृष्टि में नहीं चल सकता, वहाँ एक वस्तु का अत्यंत-भिन्न दूसरी वस्तु के साथ संबंध बतलाना, यह तो कैसे चल सकेगा ? पर के साथ कर्ताकर्म की बुद्धिवाला अज्ञानी अपने भिन्न तत्त्व का कभी अनुभव नहीं कर सकता; और अंतर में गुण-पर्याय के भेद करके उनके विकल्प में रुके तो वहाँ तक भी आत्मवस्तु अनुभव में नहीं आती। जिसके विचार ही भेदज्ञान से विपरीत हैं, उसे भेदज्ञान कहाँ से होगा ? यथार्थ आत्मस्वरूप का विचार और निर्णय करे तो भेदज्ञान हो। विचार अर्थात् विकल्प की बात नहीं है परंतु ज्ञान में सम्यक् निर्णय करना, वह विचार का कार्य है। वस्तुस्वरूप की ओर विचार ढले तो भेदज्ञान हो।

मेरा व्याप्य-व्यापकपना मुझमें है; पर के साथ मुझे अंशमात्र व्याप्य-व्यापकपना या कर्ताकर्मपना नहीं है। ऐसे दृढ़ विचार ज्ञान द्वारा उपयोग अंतरोन्मुख होने से भेदज्ञान होता है। 'विचार कर तो प्राप्ति होगी।' भगवान ने समवसरण में जैसा वस्तुस्वरूप कहा, वैसा विचार में लेने पर उसके अभ्यास से उसका अनुभव होता है।

नय-प्रमाणज्ञान द्वारा वस्तु में भेद करके विचार किया जाये तो वह भी स्वयं अपने में ही समाविष्ट होता है, भेद करने पर भी, पर के साथ तो वस्तु को कर्ताकर्मपने का संबंध नहीं होता; पर के साथ के कर्ताकर्म संबंध की बात तो बिलकुल उखाड़ दी है। अपने में कर्ता-कर्म का भेद करना भी व्यवहार है, और एक वस्तु के परमार्थ अनुभव में तो इतना भेद भी नहीं है। अपने

समस्त गुण-पर्यायों को अपने में ही समाकर, ज्ञानज्योति एकवस्तुरूप से अपने आत्मा को देखती है। ऐसी ज्ञानज्योति में किसी विभाव का प्रवेश नहीं है; समस्त विभावों से भिन्न अपने स्वरूप का वह अनुभव करती है; इसलिये वह ज्ञानज्योति निजस्वरूप की अनुभवशील है तथा परभावों की मेटनशील है, अर्थात् स्वरूप का अनुभवन करने का और परभावों को तोड़ने का उसका स्वभाव है।—ऐसी भेदज्ञानज्योति आत्मा में प्रगट हो, वह मंगल प्रभात है।

सु.....खी

अहो! आत्मा आनंद-स्वभाव से भरा हुआ है। ऐसे आत्मा के समक्ष देखे तो दु:ख है ही कहाँ? आत्मा के आश्रय में धर्मात्मा नि:शंक सुखी है। देह का भले ही चाहे जो हो, अथवा सारे ब्रह्मांड में खलबली मच जावे, तो भी उससे मुझे दु:ख नहीं, मेरी शांति-मेरा आनंद मेरे आत्मा के ही आश्रय से है, जहाँ मैं अपने आनंद-समुद्र में डुबकी लगाकर लीन हुआ, वहाँ मेरी शांति में विघ्न करनेवाला जगत में कोई नहीं। इसप्रकार धर्मात्मा आत्मा के आश्रय से सुखी है।

[समयसार शास्त्र के सुखशक्ति के प्रवचन में से]

सुख का कारण

'जड़ और जड़ के कार्यों से पृथक्, मैं ज्ञानानंदस्वरूप हूँ'—इसप्रकार अपने स्वभाव का निर्णय जीव ने पूर्व में एक सेकंड भी कभी नहीं किया, इससे वह (अपना स्वभाव) 'अपूर्व' है। इसके सिवाय दूसरा सब कुछ पूर्व में कर चुका है, लेकिन उससे चार-गति का परिभ्रमण मिटा नहीं। वह (चतुर्गति-परिभ्रमण) कोई अपूर्व चीज़ नहीं है। भगवान! एक बार अपने चैतन्यतत्त्व को सुनकर उसका अपूर्व निर्णय कर। तेरी अन्तरशक्ति में सर्वज्ञपना पड़ा हुआ है; उसे भूलकर अपने को विकार-जितना तुच्छ मानता है और 'मैं जड़ का कार्य करता हूँ'—ऐसा मिथ्या अभिमान करता है; यह पाप है और दु:ख का कारण है। अंतर्मुख होकर के अपने परिपूर्ण चिदानंद-स्वभाव का निर्णय करना धर्म है और वह सुख का कारण है।

विविध वचनामृत

[आत्मधर्म का चालू विभाग, लेखांक १०]

१५५- मोक्षार्थी कैसा हो और वह क्या करे ?

शास्त्रों में आचार्य भगवान एक शर्त रखते हैं कि जो जीव मोक्ष का अर्थी हो, दूसरी कोई शल्य जिसे न हो, एकमात्र अतीन्द्रिय आत्मसुख के अनुभव के सिवाय दूसरा कोई जिसे उपादेय नहीं है, दूसरा कोई जिसे प्रिय नहीं है—ऐसा मोक्षार्थी जीव क्या करे ?

ऐसा मोक्षार्थी जीव आनंद-विरुद्ध समस्त कार्यों को आमूलचूल त्याज्य समझता है; चैतन्य की परम आनंद की अनुभूति के सिवाय समस्त संकल्प-विकल्प, समस्त अशुभ-शुभ, समस्त राग-द्वेष को जड़मूल से अपने स्वभाव के बाहर समझता है। मेरे स्वभाव की सीमा में उस किसी परभाव का प्रवेश नहीं है; मेरे अतीन्द्रिय पद में वैसा कोई भाव नहीं है—ऐसा जिस समय स्वानुभव करता है, उस समय मोक्षमार्ग होता है।

१५६- अनुभव जीवन पीछे नहीं परंतु उसीसमय

संत लोग 'शुद्ध आत्मा के अनुभव' का उपदेश इसलिए देते हैं कि उससे मोक्षमार्ग होता है। जीवन में... पीछे नहीं परंतु उसीसमय... ऐसा अनुभव करने जैसा है। ऐसे अनुभव से शून्य जीवन उपादेय नहीं है; अनुभव जीवन ही आत्मा का सच्चा जीवन है।

१५७- संत भेदज्ञान देते हैं

मेरे ज्ञानस्वभाव की महिमा कोई अचिंत्य अपार है; इस स्वभाव के स्वसन्मुख महिमा में एकाग्र होते ही विकल्प टूट जाता है, ज्ञानभाव में से राग निकल जाता है, ज्ञानधारा राग से जुदी पड़ जाती है-अर्थात् भेदज्ञान हो जाता है... ज्ञान का सच्चा स्वाद अनुभव में आता है। ऐसे भेदज्ञान और ऐसे स्वानुभव का अद्‌भुत वर्णन समयसार के संवर अधिकार में किया है। अहा, भेदज्ञान की अंतर की रीति बता करके संत लोग, मानों भेदज्ञान ही दे रहे हों। इस भेदज्ञान का अधिकार एकांतचित्त से खूब मनन करनेयोग्य है।

१५८- मुनि और मुमुक्षु

मुनियों का जीवन जिसतरह स्वानुभवरूप होता है, उसीतरह मुमुक्षु का जीवन भेदज्ञान की भावनामय होना चाहिये। भेदज्ञान की भावना का फल स्वानुभव प्राप्ति है।

१५९- एक ही धुन

जिसे दूसरी किसी चीज़ का आदर नहीं होगा और एक चैतन्य का ही आदर होगा, उसे उसकी प्राप्ति-अनुभूति क्यों नहीं होगी ? लेकिन जीव को इसकी पूरी धुन लगनी चाहिये। दूसरी सभी धुन एक बार मन में से निकल जाये और एक ही धुन रहे तो सारी शक्ति उसीतरफ लगेगी और अपने इष्ट का अनुभव होगा। हे जीव ! अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद लेनेवाला बनकर मोक्ष का मंगल-मंडप अपनी आत्मा में रोप।

१६०- मुमुक्षु के परिणाम का प्रवाह

मुमुक्षु का गृहकार्य-संसारकार्य की तरफ परिणाम जितना कमती जाये, उतना ही अच्छा है; अधिक से अधिक परिणाम आत्मा के हित की तरफ लगे, वह खास जरूरी है। ये परपरिणाम तो जीव को झट सुगम हो जाते हैं, स्वपरिणाम के लिये खूब जागृत रहना चाहिये... लगातार अंतर उद्यम के द्वारा स्वपरिणाम को स्वाभाविक करना है।

१६१- स्वाध्याय का अर्थ संतों के साथ गोष्ठी

मुमुक्षु वीतरागी संतों की वाणी का स्वाध्याय करते समय समझता है कि वह संतों के साथ गोष्ठी कर रहा है, ऐसा उसका आह्लाद, बहुमान और श्रुतभावना जागती है।

१६२- जीव के परिणाम की ताकत

आराधना का काल असंख्यात समय का है; असंख्य समय में आराधना के द्वारा साधक जीव अनंत काल के मोक्षसुख को सिद्ध करता है, अर्थात् एक-एक समय की आराधना के फल में अनंत काल का सुख प्राप्त करता है; इस तरह आराधकभाव का फल अनंतगुणा है।

और, जिंदगी में संख्यात वर्ष के आयुष्य में पाप करके जो जीव नरक जाता है, वह एक-एक सेकंड के पाप के फल में असंख्यात वर्षों का घोर दुःख पाता है। अर्थात् थोड़-से काल के पाप में असंख्यातगुने काल का दुःख भोगता है।

देखो, जीव के परिणाम की ताकत !

उलटा परिणाम करता है, तो एक क्षण में असंख्यात वर्षों का दुःख खड़ा करता है।

सुलटा परिणाम करता है, तो एक क्षण में और उसके लाभ में अनंत काल शाश्वत रहनेवाले मोक्षसुख को पाता है।

विराग

श्री शुभचन्द्राचार्य तथा भर्तृहरि का एक प्रसंग

इस नाम के धारक अनेक हो गये 'ज्ञानार्णव' नामक महान ज्ञान-वैराग्यदर्शक ग्रंथ के प्रणेता के बारे में कथा है, जो परम वीर थे, जिनको चैतन्यस्वरूप में विश्रान्ति द्वारा मुनिपद सुखरूप था, कायर को मिथ्या प्रतिभासवश जैन मुनिपद कठिन दु:खदाता भासित होता है किंतु अक्षय अनंत सुखरूप मोक्ष, उसका कारण मोक्षमार्ग कभी भी दु:खरूप दु:खदाता नहीं हो सकता है। वैराग्य कई प्रकार के होते हैं।

१. राग गर्भित, २. द्वेष गर्भित, ३. मोह-दु:खगर्भित और ४. नित्यभूतार्थ ज्ञायक स्वभावाश्रित ज्ञान गर्भित वैराग्य है। जो उसी सच्चे ज्ञान वैराग्य की उपासनामय मुनिपद जिनको हठरहित होता है। [ऐसे मुनिराज को नित्य नमस्कार हो।]

अब कथा के अंश पढ़िये—

१— शुभचंद्र थे बड़े और भर्तृहरि छोटे भाई थे। उनके पिता महाराजा थे, पिता इसकारण चिंता में थे कि ये दोनों पुत्र परम पराक्रमशील, तेजस्वी, शूरवीर हैं और मेरी नयी रानी और उनके पुत्र जो मुझे अत्याधिक प्रिय हैं किंतु नई रानी के पुत्र इतने शूरवीर भी नहीं हैं और मेरी इच्छा नई रानी के पुत्र को राज्य देकर रानी को संतुष्ट करने की है। एक दिन प्रसंग ऐसा हुआ कि-नवयुवक राजपुत्र खेल रहे थे, मंडप में लगे बड़े लोहे के स्तंभ को गन्ने के (सांठे के) समान मोड़ दिया। यह अतिशय शरीर बलधारी पुत्रों को देखकर राजा को भय लगा कि ये दोनों पुत्रों का अस्तित्व भविष्य में मेरी इच्छापूर्ति में बाधक है—मंत्री को आज्ञा की कि यह बड़े दो राजपुत्र हैं, उन्हें जंगल में ले जाओ, मार डालो। मंत्री ने राजा को समझाया, राजा ने जवाब दे दिया—राज की नीति में ऐसा होता है। मंत्री इस अनुचित बात को मन में धिक्कारते हुए बड़े दु:खी होकर राजपुत्रों को संसार की विषमता समझाते हैं कि—भैया! आप तो बड़े पुण्यवान शूरवीर हैं किंतु धिक्कार है मोह को, जो आपके पिता आपकी महानता-शूरवीरता को देखकर स्वार्थांध हो जल रहे हैं, आपकी हत्या करने की मुझे आज्ञा दी है किंतु मेरे द्वारा ऐसा नहीं होगा, आप शीघ्र कहीं चले जायें, गुप्त भेष में ही रहना।

संसार की विषमता के उदाहरण का अनुभव करते ही दोनों भाई को वैराग्य हो गया, दोनों भाई अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सुख की शोध में अलग-अलग निकल पड़े। जैन मुनियों में तो तदन निष्परिग्रह दशा और अंतरंग में भेदविज्ञान की प्रवीणता से प्राप्त नित्य ज्ञानानंदमयी ऐसा अंतरंग में प्रगट अति सूक्ष्म चैतन्य स्वभाव के आलंबन से जितेन्द्रियता और अतीन्द्रिय आत्मिक सुख ही होता है, जिसे शास्त्रीय भाषा में शुद्धोपयोगरूप-साधकदशारूप मुनिधर्म कहते हैं। भर्तृहरि को उस आत्मिक सुख और उनके साधन की श्रद्धा भी नहीं थी, अत: देह-इन्द्रियाँ और उनके विषयों में सुख मानने के भ्रम में थे, जैन साधुपरमेष्ठीपद में तो दु:ख है, ऐसे मिथ्या प्रतिभासवश, कुलिंगी जो अज्ञानी पंचाग्नि तप द्वारा हिंसा में हिंसा न मानकर, धर्म माननेवाले थे, उनकी संगति पाकर, उनके अनुयायी बनकर वहाँ सुख सुविधा मानकर उनका भक्त बन गया।

शुभचंद्रजी को तो लोकोत्तर और पवित्र संयमित जीवन प्रिय था, किसी द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव को इष्ट-अनिष्ट मानना या किसी से भय, या आशा रखना उसे जरा भी सम्मत नहीं था, वे तो निरंतर-नित्य निरंजन ज्ञानमय निजरूप का आदर, आश्रय चिंतन सहित सोचते जा रहे थे, अपने त्रैकालिक सत्त्व को दृष्टिपथ पर रखकर संसार की विषमता, अस्थिरता जानकर प्राणी का एकत्व-विभक्त, और उत्तम मंगल शरण है, स्वयंभू अपनी आत्मा-इसप्रकार सच्चे सुख के शोधक थे, निजशक्ति के बल से उनकी इतनी तैयारी हो चुकी थी जो यथाजातरूपधर जिनमुद्राधारी निस्पृह जिनमुनि को पा लिये, एकाकी आत्मरूप में मग्नरूप में दिगम्बर जैनमुनि को देखा तो हृदय गद्‌गद् आनंद विभोर हो गया, जैसे तृषातुर को पवित्र जल की प्राप्ति, मोती बननेयोग्य सीप को स्वाति नक्षत्र में जल वर्षा मिले, उसीप्रकार शुभचंद्र ने वासना-विजयी, तत्त्वज्ञान और विवेकमूर्ति जैन साधु को निर्जंतु स्थान पर ध्यानमुद्रा में स्थित देखा-जिनमुनि का नाम था वंदनीय श्रुतसागर।

शुभचंद्र की आध्यात्मिकता को एक मौका दिया। उन्होंने एक विवेकी बुद्धिमान की तरह उनके योग्य बनकर गुरु उपासना द्वारा आत्मार्थी बनकर निज आत्महित का भरपूर लाभ उठाया।

शुभचंद्रजी ने श्रीगुरु के समीप श्रद्धा-ज्ञान और आचरण का बल विशेष प्रगट करने के लिये प्रार्थना की। भगवान! मुझे सब विषमताओं को नष्ट करनेवाली साधुपद के योग्य निर्ग्रंथ

मुनिपद की दीक्षा देने का अनुग्रह कीजिये.... फिर थोड़े ही समय में शुभचंद्र राजपुत्र न रहकर, परम शांत, वैराग्य-मंडित, निर्लिप्त, निर्ग्रंथ साधु परमेष्ठी की श्रेणी में जा बैठे—'विषयाशावशाती तो निरारंभोऽपरिग्रहः, ज्ञान ध्यान तपो रक्तः तपस्वी सः प्रशस्यते' बस अब अखंड ज्ञानचेतना के स्वामित्व उपरांत स्वरूप में विश्रांतिरूप विशेष स्वरूपाचरणचारित्र धारा में हमारे आराध्य योगीराज शुभचंद्र (पवित्र धवल) अखंडित प्रतापवंत ज्ञान-वैराग्यमय उज्ज्वल आराधना में लवलीन रहते थे। कितनी ऋद्धि सिद्धियाँ प्राप्त हैं, कभी उस पर उपयोग लगाया नहीं था। धन्य अवतार.....

कहा है कि—

जिनको काल ही किंकर हो रहा!
मृगतृष्णा सम त्रैलोक, जीना धन्य उन्हीं का!
आशा-दासी पिशाची हो रही, काम क्रोधसो बंदी लोग।
जीना धन्य मुनिवर का॥
रिद्धि-सिद्धियाँ दासी हो रही, ब्रह्मानंद हृदय न समाय।
जीवन धन्य उन्हीं का॥
जग पावन कर वह अवतरे, अन्य मातृ उदर-भार।
जीना धन्य उन्हीं का॥
प्रतिबंधरहित मुनिराज हैं, नहिं कायर का 'यह' काम।
जीना है धन्य आपका॥

वास्तव में शुभचंद्रजी अब ऋद्धिधारक दिगम्बर जैन मुनि थे।

भर्तृहरि-जिसको अनित्य जागीकावत् मोहगर्भित वैराग्य था। दुनियाँ के अरुचिकर-संघर्ष, विषयों में इष्ट-अनिष्ट प्रतिभास और विषादमय घटनाओं को सोचता-विचारता बहुत जगह घूमा—खान-पान, थकान, स्नान, आराम-विश्राम को याद करने लगे, देह के प्रति ममता विशेषरूप से जाग उठी, क्षुधा आदि के प्रश्न हल करने में चिंतित हो उठा, कंदमूल-फल जो हाथ लगे, उनका उपभोग करने लगे, अनछना पानी जो जलजंतु से परिपूर्ण होते हैं, पीने लगा। फिर भी चाह-तृष्णा ज्यों की त्यों बनी रही। सघन वन में घूमते हुये भर्तृहरि ने देखा कि—चारों ओर आग जलाकर बीच में मस्तक पर बड़ी-बड़ी जटाओं को धारण करनेवाले एक तपस्वी

उच्च सिंहासन पर विराजे-पंचाग्नि तप, तप रहे हैं। वंदन नमस्कार करके आश्रय देने की प्रार्थना की, तापसी ने राजकुमार है, ऐसा जानकर प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार किया—कई वर्षों के पश्चात् भर्तृहरि यंत्र-मंत्रादि वनस्पति रसायन विद्या का जानकार होकर गुरु से पृथक् हो गये और सुवर्ण बनाने की रस कुप्पी तैयार की, जनरंजन के लिये भक्त समाज जुट गये, एक दिन अपने भ्राता श्री शुभचंद्र की याद आई, शिष्यों को उनकी खोज में भेजा गया, बहुत खोज के पश्चात् समाचार आया कि भैय्या तो नग्न दिगम्बर ही हैं। घोर दरिद्रता दिख रही है, वस्त्र का टुकड़ा भी नहीं और न भोजन के कोई साधन हैं, भक्तगण भी उनकी व्यवस्था में नहीं हैं। बड़े कष्ट में हैं, ऐसा प्रत्यक्ष देखकर आया हूँ। [-देखो संयोग में निमित्त में एकत्व बुद्धिवान जीव देह और आत्मा को एक मान रहे हैं, उसे निर्ग्रंथ वीतरागता क्या है ? जरा भी पता नहीं होता। जैन मुनि अशरण अनाथ दु:खी कभी नहीं है, इच्छा ही दु:ख है, दु:ख का अभाव ही सुख है, मुनि को तो अपने अंतरंग में प्रगट अति सूक्ष्म चैतन्यस्वभाव में एकाग्रता के बल से परम अतीन्द्रिय महान सुख है, जो अंतर्दृष्टि ग्राह्य है, अज्ञानी ऐसा न मानकर अपनी देहात्म बुद्धि द्वारा बाह्य वस्तु के संयोग-वियोग में इष्ट-अनिष्ट मानकर अपने को सुखी मानता है। अत: वह मिथ्या प्रतिभास ही संसार है, दु:ख है।]

जब शिष्य के द्वारा ऐसा समाचार सुना कि शुभचंद्र बहुत दु:खी दशा में है, तब उनका दु:ख मेटने के लिये अपनी आधी रस-तुंबी भेजी और कहा कि भैया को दे आना, समझाना कि यह दुर्लभ वस्तु है, स्पर्श मात्र से तांबा सोना बन जाता है, आपकी दरिद्रता को देखकर सुखी करने के लिये आपके लघु बंधु ने यह कठिन साध्य वस्तु आपके लिये भेजी है, उनका उपयोग करके सुख सुविधा में रहें.....। (देखो, **संयोग में एकताबुद्धि-देहात्म बुद्धिवान पर से सुख-दु:ख, इष्ट-अनिष्ट मानता है, मनवाना चाहता है, सबको अपनी देहाश्रित ममता की दृष्टि से देखता रहता है, वह मिथ्या प्रतिभास ही सबसे बड़ा पाप है; दु:ख है, संसार है।**)

शिष्य जब शुभचंद्रजी (जो निरंतर आत्मिक सुख में तृप्त हैं, लीन हैं, सुखी ही हैं) के पास पहुँचता है, वह रस तुंबी सामने रखकर सब निवेदन किया, उपेक्षा बुद्धि से देखा-जवाब दिया कि उसे पत्थर पर पटको... शिष्य दुविधा में पड़ गया, अरे... कितनी वनस्पति-धातुओं का कष्टसाध्य रस कैसे पटका जाये ? शुभचंद्र ने फिर कहा, त्याग की वस्तु प्रति इतना ममत्व क्या ! पटक दो.... दु:ख के साथ आज्ञा का पालन किया, लौटकर भर्तृहरि को यह हाल सुनाया

कि बड़े भाई ने ऐसा कहा, उनकी आज्ञानुसार वह सिद्ध किया गया रस पत्थर पर फेंक दिया। भर्तृहरि को जितना मोह अपने शरीर के प्रति था, उतना ही मोह सुवर्ण सिद्धि रस के ऊपर था, समाचार सुनकर सन्न हो गये, हृदय में बहुत बड़ा आघातरूप वेदना का अनुभव करने लगा, रात भर चिंतित रहा, हाय! मैंने गलती की, इतनी बहुमूल्य वस्तुएँ कहीं यों भेजी जाती हैं? अब मैं जाकर भैया को समझा दूँगा, ऐसी भूल नहीं होने दूँगा, इत्यादि संकल्प-विकल्परूप आर्त्तध्यान करते रहे-फिर सोचता है कि हो सकता है कि मेरे शिष्य ने भैया को इस दुर्लभ रसायन रस की ठीक-ठीक महत्ता ही न बताई हो-सुबह तक अनेक चिंताओं में मशगुल रहना, बिस्तर में पड़ा रहा, सो नहीं पाया।

सुबह उठा, असंतोष मिटाने का व्यर्थ उपाय जो इच्छा की पूर्ति करने की महत्वाकांक्षा के लिये स्वयं अपनी आधी बची रसकुप्पी लेकर चल पड़े भैया को देखने के लिये। दूर से देखा, क्या देखा चमड़े को, कि ओह... भैया का कृश शरीर, एकाकी असहाय है, अनाथ है, तपोबल से उद्दीप्त शांत सौम्यमुद्रा से दृढ़ पद्मासन पर आसीन है। ज्ञानानंदमय तत्त्व को न पहचानकर चर्म चक्षु द्वारा पहचाना—'कि अहो! यही मेरा बड़ा भैया ही तो है।' और वह गद्‌गद् हो उठा, चरणों में गिरकर अभिवादन किया-सप्रेम वंदना....

सर्वज्ञ वीतराग कथित सच्चे योगीराज शुभचंद्र तो उत्तम क्षमा संतोष अकिंचन भावना से अलंकृत थे, सहज अपनी आत्मलक्ष्मी के अवलोकन से सदा तृप्त ही थे। कोई खड़ा है, नजर उठाकर देखा तो भर्तृहरि... गेरुआ वस्त्रों, माला, जटा आदि से मंडित, मृग चर्म सहित परिग्रहधारी छोटा भैया था.... धर्मवृद्धि दी!

भर्तृहरि बोला—'भैया! जैसे ही सुना कि तुम अनाथ हो, संकट में हो, आधी तूंबी कंचन रस भेज दिया था, लेकिन व्यर्थ गया! अब शेष आधी तूंबी भी लेकर आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ।'

'हाँ? क्या होता है इससे'—'सोना बनाया जाता है—भैय्या बड़ी बेशकीमत चीज़ है!' 'सोना!' शुभचंद्र ने पूछा और तूंबी उठाकर पत्थर पर पटक दी। भर्तृहरि सन्न!!! शुभचंद्र बोले—'कहाँ हुआ सोना?'—रुँधे गले से कहा—'भैया! पत्थर नहीं तांबा सोना बनता है। तुमने यह क्या किया.... उफ!!! बारह वर्ष गुरु की सेवा करने पर इसे पा सका था—मैं। ओह! यह अति दुर्लभ वस्तु न तुम्हारे काम आई, न मेरी रही।'

शुभचंद्र मुस्कुराये—भर्तृहरि की सरलता और भोलेपन पर! फिर बोले—'भर्तृहरि! तुम घर छोड़कर विराग के लिये, यहाँ आये थे—धन, दौलत, मान-सम्मान और राज्यलक्ष्मी को ठुकराकर। मैं देख रहा हूँ सोने के लोभ को यहाँ आकर भी तुम नहीं छोड़ सके हो? आज भी तुममें कलंक बाकी है। इतने वर्ष बिताकर भी मिथ्या प्रतिभास—अज्ञानता वश रहे, इसे विराग नहीं, दंभ कहते हैं भोले प्राणी! धर्म के नाम पर अनंत भव में कई ढोंग कर चुके... पवित्र होने का उपाय अपूर्व है.... जैसे सूर्य सदा प्रकाशमय है, वह कभी भी अंधकार का ग्रहण या त्याग कर सकता है? नहीं, उसीप्रकार यह आत्मा चाहे अशुद्धरूप परिणमे या शुद्धरूप किंतु परद्रव्य को किसी भी प्रकार ग्रहण-या त्याग नहीं कर सकता। हाँ, रागी जीव उनकी भूमिका के अनुसार ये करना, ये न करना, ऐसा रागभाव कर सकता है, भेदविज्ञान द्वारा स्वसन्मुख ज्ञाता बनकर अपूर्व धैर्य को धारण कर सकता है। स्वाधीनता को छोड़ना, पराधीनता मोल लेना कहाँ तक ठीक है? प्रथम तो सबसे बड़ा पाप मिथ्यात्व है, जो सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों को और निजरूप को विपरीतता रहित और यथार्थता—भावभासन सहित जानना ही तत्त्वविचार के उद्यमरूप प्रथम नंबर का छोटा सा धर्म है। वीतरागतारूप चारित्र धर्म ऊँचे नंबर का धर्म है, जो सम्यग्दर्शन के पश्चात् ही हो सकता है। कुछ समझे भैया!

भर्तृहरि टकटकी लगाकर सुन रहा था—अपने को अपने भीतर कुछ उजाला-सा होता मालूम दिया। किंतु मन में दुविधा का दु:ख दूर नहीं हुआ था। शुभचंद्र कहते गये—क्यों जी आपको सुवर्ण की ही चाह है? तो लो कितना सोना चाहते हो?

विशाल पत्थर पर अपनी चरण रज छोड़ दी! आश्चर्य..... तपोबल की पवित्रता और पुण्य की अचिंत्य शक्ति!! वह सारा पत्थर सोना बन गया! भर्तृहरि आँखें फाड़े देखता रह गया-अचम्भित-सा।

हृदय भर आया उसका। भैया की सम्यक् रत्नत्रयरूप तपस्या ने मोह लिया। पैरों में गिरकर बोला—'मुझ डूबते को उबारिए—महाराज!....! मैं अपने को आपके चरण-शरण में अर्पण करता हूँ।'

तृसि हुई चिंता गई, मनुआ बेपरवाह।
जिन्हें कछू न चाहिए, सो शाहनपति शाह॥

[मूल लेखक श्री भगवत जैन हैं, सन्मति संदेश के आधार से यह कथा कुछ आध्यात्मिक ढंग से नये रूप में दी गई है।]

संसार का मूल कारण

श्री अमृतचंद्राचार्य ने श्लोक १४ में कहा है कि—

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽनि युक्तइव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्॥१४॥

अर्थ—इसप्रकार यह आत्मा कर्मकृत रागादि-शरीरादि भावों से संयुक्त न होने पर भी अज्ञानी जीवों को संयुक्त सा प्रतिभास में आता है और वह प्रतिभास ही निश्चय से संसार के बीजरूप है।

पुरुषार्थ सिद्धि का उपाय

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम्॥१५॥

अर्थ— जो विपरीत श्रद्धान का नाश कर यथार्थतया निजस्वरूप को जानता है और उस निजस्वरूप में से भ्रष्ट न हो, वही पुरुषार्थ सिद्धि होने का उपाय है।

भावार्थ—कर्मजनित पर्यायों से भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप को मानना, जानना और कर्मजनित पर्यायों से उदास होकर स्वरूप में अकंप-स्थिर रहना, वह सम्यक् चारित्र है। यह तीनों भावों का समूह वही इस जीव को कार्यसिद्धि होने का उपाय है, अन्य कोई उपाय सर्वथा (किसी भी प्रकार) नहीं है (-पंडित प्रवर श्री टोडरमलजी की टीका।)

देखो, मोक्ष वीतरागभाव है तो मोक्ष का मार्ग (उपाय) भी वीतरागभाव ही है, अन्य तो निमित्तमात्र है। सच्चा मोक्षमार्ग दो नहीं, सच्चा मोक्षमार्ग तो एक ही है।

जो जीव इस उपाय में लगे हैं, उनका वर्णन देखिये

अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा।
एकांतविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः॥१६॥

टीका—इस रत्नत्रयरूप पदवी को प्राप्त हुए हैं, ऐसे जो महामुनि हैं, उनकी रीति, लोकरीति से मिलती नहीं है, वही कहते हैं। लोग पापक्रिया में आसक्त होकर प्रवर्तन करते हैं, मुनि पापक्रिया का चिंतवन भी नहीं करते। लोग अनेक प्रकार से शरीर की सम्भाल रखते हैं,

उसका पोषण करते हैं, मुनि अनेक प्रकार से शरीर को परिषह उपजाते हैं और परिषह सहन करते हैं। तथा लोगों को इन्द्रिय विषय बहुत मीठे लगते हैं, मुनि विषयों को हलाहल जहर के समान जानते हैं।

लोगों को अपने पास मनुष्यों का संग-समुदाय रुचता है, मुनि दूसरे का भी संयोग होने पर खेद मानते हैं। लोगों को बस्ती अच्छी लगती है, मुनि को निर्जन स्थान अच्छा लगता है। कब तक कहें ? महामुनिश्वरों की रीति लोगों की रीति से विपरीतरूप होती हैं। कैसी है मुनिश्वरों की प्रवृत्ति ? पापक्रिया सहित के आचार से पराङ्मुख है। जैसे श्रावकों को आचार पापक्रिया से मिश्रित है, वैसे मुनिश्वरों के आचार में पाप मिला हुआ नहीं है अथवा करंवित अर्थात् कर्मजनित भावमिश्रित जो आचरण उसमें पराङ्मुख हैं, केवल निजस्वरूप का अनुभव करते हैं। इसलिए एकांत विरतिरूप अर्थात् सर्वथा पाप क्रिया के त्यागस्वरूप हैं, अथवा एक निजस्वभाव का अनुभव करने से सर्वथा परद्रव्यों से उदासीन स्वरूप हैं। रत्नत्रय के धारक महामुनियों की ऐसी प्रवृत्ति है ॥१६॥

मोहनींद से जाग!

मोहनींद से अब भी जग जा, क्यों सोता बेहाल रे।
कल्पित सुख की दुखमय घड़ियाँ, आगे का क्या हाल रे।
काल अनंत वृथा युं गंवाये, मातृ-पय रुदन अनंत जी,
अशरणगोद अनित्य ही माता, दुख में सुख क्या माने जी।
वीरविजेता तज सब ममता, चेतन कर उजियाला जी;
एकत्व विभक्त स्वरूप सम्हलकर, आस्रव मल परिहारो जी।
सम्यक्रत्नत्रयी है संवर, गह अपने अधिकारो जी;
शांति समर बल की वृद्धी से, निर्जरभाव प्रकाशो जी।
लोक अकृत्रिम तूँ है अकृत्रिम, मूढ़ बने पर कर्त्ता जी;
बोद्धिरत्न महा दुर्लभ जानि, चेत कुँवर तुँ ज्ञाताजी।
वस्तुस्वभाव है धर्म तुम्हारा, है सो ले सुखदाता जी;
अधिकारी अधिकार समझकर, तज सब भ्रम दुखदाता जी।
मोहनींद से अब भी जगजा, क्यों सोता बेहाल रे॥

लाख बात की बात

लाखों प्रकार की बातों का शास्त्रों में वर्णन है, किंतु उन सर्व का मूल तात्पर्य केवल एक ही है कि निजात्मा का शुद्ध स्वरूप जानकर, जगत के सभी द्वंद-फंद तोड़कर उसका (निजशुद्ध स्वरूप का) ध्यान करना।

तीव्र राग न करे, मंद राग ही करे, और शास्त्र भी पढ़ता रहे इससे क्या? किंतु जो जीव विकल्पों से छूटकर अपनी परिणति को स्वरूप-सन्मुख नहीं करता, उस जीव को मुर्ख और जड़ कहा है। 'शास्त्र पढ़ने' का तात्पर्य तो यह था कि भेदविज्ञान द्वारा स्वरूप में सावधान रहकर उसका (स्वरूप का) ध्यान करता; पर यह कार्य जो नहीं करता और शास्त्रों के शब्दों से ही संतुष्ट रहता है, वह जीव कर्मों से नहीं छूटता। 'शास्त्र पठन' के द्वारा तो भूतार्थ-निज आत्मा का ग्रहण करने का तात्पर्य था, शास्त्रों का उपदेश भी यही है, उसके बदले में जो राग में ही रुक गया, शास्त्र-अभ्यास के विकल्प में ही सर्वस्व मानकर रुक गया, वह जड़बुद्धि है। मूल चैतन्य तत्त्व तो शरीर से और विकल्पों से पार है; विकल्प से अतिक्रांत होने पर ही वह प्रतीति में आता है। ऐसी प्रतीति जो नहीं करता, वह 'जड़' है।

आत्मा तो चेतन है, उसे 'जड़' क्यों कहा?

आत्मा चैतन्यस्वरूप है, उसके स्वरूप को भूलकर राग में और जड़ में एकत्वबुद्धि करके जो रुक रहा है, उसने आत्मा को आत्मारूप न माना, किंतु अचेतन-जड़रूप माना, इसलिए उसे 'जड़' कह दिया। जड़ अर्थात् मूर्ख, अज्ञानी; चैतन्य के चैतन्यपने की जिसे खबर नहीं है, वह जड़ है। सर्व शास्त्रों का तात्पर्य यह है कि 'देहादिक से भिन्न आत्मतत्त्व को जानकर उसका उसीरूप में अनुभव करना।' यही 'परमात्मप्रकाशक' ग्रंथ का अर्थ हिन्दी भाषा में पंडित दौलतरामजी ने किया है। छहढाला में आपने फरमाया है कि—

'लाख बात की बात यही निश्चय उर लावो,
तोड़ सकल जग द्वंद-फंद निज आतम ध्यावो।'

श्रावक धर्म की अच्छी अच्छी बातें

(१६१) जैसे अच्छे कृषिकार बीज की रक्षा करता हुआ शेष अनाज को भोगता है और बीज को बोकर सहस्रगुणे अनाज पकाता है, वैसे धर्मी जीव पुण्यफलरूप वैभव का उपभोग धर्म की रक्षा पूर्वक करता है, और दानादि सत्कार्यों में लगाता है। इसप्रकार आगे जाकर आत्मस्वरूप को साधकर, बाह्य परिग्रह छोड़कर, मुनि होकर केवलज्ञानरूप अनंत आत्म -वैभव को प्राप्त करता है।

(१६२) पुण्य के निषेध की भूमिका में (अर्थात् वीतरागभाव को साधते-साधते) ज्ञानी के अनंतगुणे पुण्य बँधते हैं। पुण्य की रुचिवाले अज्ञानी को जो पुण्य बँधे इससे, पुण्य का निषेध करनेवाले ज्ञानी की भूमिका में जो पुण्य बँधे, वह अलौकिक होते हैं; जिससे तीर्थंकरपद चक्रवर्ती पद आदि मिले, ऐसा पुण्य आराधक जीव के ही होता है; राग की रुचिवाले विराधक को ऐसा पुण्य बँधता नहीं।

(१६३) ज्ञानी पुण्य के फलरूप संयोग को अध्रुव क्षणभंगुर बिजली के समान जानकर उसका त्याग करता है और सुख का धाम ऐसे ध्रुव आत्मा को साधने के लिये सर्वसंग त्यागी मुनि होता है व मोक्ष को साधता है। पहले से दान की भावना से राग को कम किया था, तब आगे बढ़कर सर्व संग छोड़ दिगम्बर मुनि होता है, परंतु पहले से गृहस्थपन में दानादि में थोड़ा सा राग भी कम करने का जिसको नहीं आता, रागरहित स्वभाव क्या है, उसे जो लक्ष्य में भी नहीं लेता, वह सर्व राग को छोड़कर निर्ग्रंथ मुनिदशा कैसे प्रगट कर सकेगा ?

(१६४) ज्ञानी जानता है कि, एक तो लक्ष्मी आदि बाह्य संयोग में मेरा सुख जरा भी नहीं; दूसरे वे संयोग क्षणभंगुर हैं, और उनका आना-जाना पूर्व के पुण्यपाप के आधीन है। यदि पुण्य हो तो, दान में खर्च करने पर भी लक्ष्मी कम नहीं होगी; और यदि पुण्य खलास हुआ तो लाख उपाय करने पर भी वह नहीं रहेगी। ऐसा जानते हुए वे महा पुरुष धन वगैरह परिग्रह छोड़कर मुनि होते हैं; और यदि सर्व परिग्रह छोड़ के मुनि न हो सके तो, तब तक धन का उपयोग दानादि में करते हैं। इसप्रकार त्याग अथवा दान - ये दो ही लक्ष्मी के उत्तम मार्ग हैं।

(१६५) अज्ञानी तो परिग्रह में सुख मानता है। अतः उसकी ममता करके उसका संग्रह करना चाहता है, इसलिये उसको सच्चा त्याग नहीं होता। राग में व उसके फल में सुख

माननेवाले के उसका सच्चा त्याग नहीं हो सकता। ज्ञानी जानते हैं कि जितना स्वद्रव्य का आलंबन का बल बढ़े-परिग्रह छूटे, उतना सुख है। यह अकेले बाह्य त्याग की बात नहीं है, परिग्रह छूटा तब ही कहलाता है, जबकि अंदर का मोह छूटे।

(१६६) बाहुबली महाराज, रामचंद्रजी आदि महापुरुषों ने पहले से ही भिन्न तत्त्व की भावना भायी थी, राग से एवं राज से वे अलिप्त थे, अतः क्षणमात्र में राज व राग दोनों को छोड़ के वे मुनि हुए, और चैतन्य की साधना में ऐसे लीन हुए कि केवलज्ञान प्रगट हुआ। चैतन्य की संपदा के पास चक्रवर्ती की भी संपदा अत्यंत तुच्छ है। क्योंकि चक्रवर्ती की संपदा तो पुण्य का (विभाव का) फल है, जबकि चैतन्य संपदा तो धर्म का (स्वभाव का) फल है।

(१६७) अरे, सुबह जिसका राज्याभिषेक होते देखा, शाम को उसी की चिता जलती देखने में आती है—ऐसा क्षणभंगुर यह संसार है, ध्रुव तो आत्मा का स्वभाव है; अतः हे भाई! चैतन्यस्वभाव को दृष्टि में लेकर लक्ष्मी आदि के मोह को छोड़।

(१६८) जैनधर्म का चरणानुयोग भी अलौकिक है, द्रव्यानुयोग के अध्यात्म की साथ उसका मेल है। अध्यात्म की दृष्टि होने पर देव-गुरु की भक्ति, दान, साधर्मी-वात्सल्य आदि भाव भी होते हैं। श्रावक के हृदय में मुनिदशा की प्रीति है। अतः निरंतर त्याग की ओर लक्ष रहता है, और मुनिराज को देखकर भक्ति से उल्लसित-रोमांचित हो जाता है। भाई! ऐसा मनुष्य अवतार मिला तो मोक्षमार्ग साध के उसे सफल कर।

(१६९) कोटि-कोटि रुपये देने पर भी जिसकी आयु का एक समय भी बढ़ नहीं सकता, ऐसे मूल्यवान मनुष्य जीवन को धर्म के बिना जो व्यर्थ गँवाता है, और जन्म-मरण के अंत का उद्यम नहीं करता, वह दुर्बुद्धि है। भाई! यह तो आत्मा को साधने का अवसर है। तेरे आत्म-खजाने से जितना वैभव (सम्यग्दर्शनादि) निकाले, उतना निकल सकता है। अरे! ऐसा अवसर कौन गँवाएगा? जबकि आनंद का भंडार खुला है, तब उस आनंद को कौन नहीं लेगा? बड़े-बड़े चक्रवर्तीओं व छोटे-छोटे राजकुमारों ने उस चैतन्य खजाने को लेने के लिए बाह्य खजाने को छोड़-छोड़ के वन में सिधाये और अंतर में आत्मा का ध्यान लगाकर सर्वज्ञपद का अचिंत्य निधान प्राप्त किया। उन्होंने जीवन को सफल किया।

(१७०) रे जीव! आत्मज्ञान के बिना अनंत अवतार तूने किया, स्वर्ग का भी अनंत अवतार तू कर चुका, परंतु धर्म जरा सा भी न हुआ तो अब लक्ष में तो ले कि धर्म क्या चीज़ है?

सत्समागम से आत्मा का स्वरूप पहचान, तो आनंद का अनुभव होगा और जन्म-मरण का नाश हो जायेगा।

मोक्ष के उद्यम का यह अवसर है; तेरे से सब राग न छूट सके तो कुछ भी तो राग कम कर। मोक्ष के लिये तो सभी राग छोड़ना होगा। दानादि के द्वारा थोड़ा राग कम करने का भी यदि तुझे नहीं आता तो मोक्ष का उद्यम तू कैसे करेगा? अरे, ऐसा मनुष्य जीवन पाकर आत्मा में रागरहित ज्ञानदशा प्रगट करने का प्रयत्न जो नहीं करते और प्रमाद से विषयकषाय में ही जीवन गँवा देते हैं, वह मूर्खता से मनुष्यजीवन खो देते हैं—बाद में उनके पछतावा होगा कि अरे रे! मनुष्य जीवन पाकर मैंने आत्मा का कुछ नहीं किया। अतः हे भाई! सावधान होकर के आत्महित में चित्त को लगा। —ब्रह्मचारी हरिलाल जैन।

त...त्त्व...च...र्चा

[३]

[तत्त्वरसिक जिज्ञासुओं को प्रिय, आत्मधर्म का चालू विभाग अंक २ से आगे]

विचार वह मिथ्यात्व नहीं

(३०) प्रश्न—द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद के विचार में भी मिथ्यात्व है-वह किस प्रकार?

उत्तर—भेद के विचार में कुछ भी मिथ्यात्व नहीं। ऐसे भेद के विचार तो सम्यग्दृष्टि को भी होते हैं, लेकिन वह भेद-विचार में जो रागरूप विकल्प है, उसको लाभ का कारण मानकर उसमें एकत्वबुद्धि से जो जीव अटके, उसको 'मिथ्यात्व' जानना। बिना एकत्वबुद्धि का भेदविकल्प मिथ्यात्व नहीं, वह 'अस्थिरता का राग' है।

सम्यक्त्व का मार्ग

(३१) प्रश्न—गुणभेद के विचार से भी मिथ्यात्व नहीं टलता, तो मिथ्यात्व को कैसे टालना?

उत्तर—शुद्ध आत्मवस्तु, कि जिसमें राग अथवा मिथ्यात्व है ही नहीं–भेदविज्ञान द्वारा उस शुद्धवस्तु में परिणाम तन्मय होने से मिथ्यात्व टलता है; दूसरे कोई उपाय से मिथ्यात्व टलता नहीं। भाई! गुणभेद का विकल्प भी शुद्ध वस्तु में कहाँ है?–नहीं; तो वह शुद्धवस्तु की प्रतीति गुणभेद के विकल्प की अपेक्षा रखती नहीं। वस्तु में विकल्प नहीं, ऐसे दोनों की भिन्नता जानते वक्त परिणति विकल्प में से हटकर स्वभाव में आये, तब मिथ्यात्व टल जाता है।–यह मिथ्यात्व टालने की रीति है; अर्थात् 'उपयोग' और रागादि का भेदज्ञान, यह सम्यक्त्व का मार्ग है। इसलिये विकल्प-अपेक्षा चिदानंदस्वभाव की अनंत महिमा भासकर उसके अनंत रस में असीम रुचि होना चाहिये।

आहारकशरीर

(३२) प्रश्न—जो मुनि आहारकशरीरनामकर्म बाँधता है, उसको वह उदय में आता ही है–ऐसा नियम है?

उत्तर—नहीं। कोई मुनि आहारकशरीरनामकर्म बाँधे, लेकिन उसके उदय का अर्थात् आहारकशरीर की रचना का प्रसंग कभी न आये, बीच में ही वह उक्त प्रकृति का छेदकर मोक्ष पा सकता है, परंतु तीर्थंकरनामकर्म में ऐसा नहीं है। तीर्थंकर नामकर्म तो जिसको बंधे, उस जीव को वह नियम से उदय में आये ही। 'आहारकशरीर' प्रकृति सातवें अथवा आठवें गुणस्थान में बँधती है और छठवें गुणस्थान में उदय में आती है। कोई जीव क्षपकश्रेणी के समय आहारकशरीर बाँधे और सीधा केवलज्ञान पाये, छठवें गुणस्थान में वापिस आये ही नहीं, तो उसको आाहरकशरीर की रचना का प्रसंग नहीं आता। छठवें गुणस्थानवर्ती आहारकशरीर की रचनावाले मुनिवर एकसाथ ज्यादा से ज्यादा (५४) चौवन होते हैं।

नवतत्त्व और शुद्ध आत्मा

(३३) प्रश्न—नवतत्त्वों को जानना सम्यग्दर्शन है, अथवा शुद्ध जीव को जानना सम्यग्दर्शन है?

उत्तर—नवतत्त्वों को यथार्थरूप से जानते वक्त उसमें शुद्ध जीव का ज्ञान भी आ ही जाता है; और जो शुद्ध जीव को जाने तो उसके नवतत्त्व का भी यथार्थ ज्ञान जरूर होता ही है।–इसप्रकार भूतार्थनय से नवतत्त्व के ज्ञान को सम्यक्त्व कहो अथवा शुद्ध जीव के ज्ञान को सम्यक्त्व कहो, – दोनों एक ही हैं। ('ज्ञान' कहते वक्त 'ज्ञानपूर्वक प्रतीति', उसको सम्यग्दर्शन समझना।)

इसमें एक विशेषता यह है कि सम्यक्त्व प्रगट होने की अनुभूति के समय नवतत्त्वों के ऊपर लक्ष नहीं जाता, वहाँ तो 'शुद्ध जीव' के ऊपर ही उपयोग की एकटक एकाग्रता होती है। 'यह मैं' ऐसी जो निर्विकल्प प्रतीति है, उसके ध्येयभूत अकेला 'शुद्ध आत्मा' ही है।

अनुभूति में मन का संबंध नहीं

(३४) प्रश्न—निर्विकल्प अनुभूति में मन का संबंध छूट गया है, यह बात कितने प्रतिशत सत्य है ?

उत्तर—शत-प्रतिशत सत्य। वहाँ निर्विकल्पतारूप जो परिणमन है, उसमें तो मन का अवलंबन जरा भी नहीं, उसमें तो बुद्धिपूर्वक मन का संबंध बिल्कुल छूट गया है; लेकिन उस समय अबुद्धिपूर्वक जो राग परिणमन बाकी है, उसमें मन का संबंध है।

सम्यग्दर्शन की विधि

(३५) प्रश्न—नयपक्ष से अतिक्रांत, ज्ञानस्वभाव का अनुभव करके उसकी प्रतीति सम्यग्दर्शन है। इस तरह से सम्यग्दर्शन की विधि तो आपने समझाई, लेकिन अब उस विधि को अमल में कैसे लाना ?-विकल्प में से कुलाँट लगाकर 'निर्विकल्प' किस प्रकार होना-यह समझाओ।

उत्तर—विधि यथार्थरूप से समझ में आ जाये तो कुलांट लगाये वगैर रहे नहीं। विकल्प की जाति और स्वभाव की जाति दोनों को भिन्न जानते ही परिणति विकल्प में से मुक्त होकर स्वभाव के साथ तन्मय होती है। स्वरूप को सम्यक्रूप से जानने का समय, और परिणति का कुलांट लगाने का समय-दोनों एक ही हैं। इस विधि के जानने के बाद इसको सीखना नहीं पड़ता कि तू ऐसा कर। जो विधि जानी, उस विधि से ज्ञान अंतर में ढलता है। सम्यक्त्व की विधि को जाननेवाला ज्ञान स्वयं कुछ राग में तन्मय नहीं, स्वभाव में तन्मय है और ऐसा ज्ञान ही सत्य विधि को जानता है। राग की रुचिवाला-राग में तन्मय हुआ ज्ञान सम्यक्त्व की सत्य विधि को जानता नहीं।

देवलोक के देव

(३६) प्रश्न—सर्वार्थसिद्धि में कितने देव हैं ?

उत्तर—सर्वार्थसिद्धि विमान जम्बूद्वीप जितना एक लाख योजन विस्तारवाला है, उसमें संख्यात देव हैं। वे सब देव नियम से सम्यग्दृष्टि और एकावतारी हैं। इसके अतिरिक्त नवग्रैवेयक ऊपर नवअनुदिश तथा अपराजित वगैरह पाँच अनुत्तर विमान हैं। उनमें असंख्यात

देव हैं, वे भी सभी नियम से सम्यग्दृष्टि ही होते हैं; मिथ्यादृष्टि का वहाँ अभाव है। बारहवें स्वर्ग से ऊपर आनत-प्राणत स्वर्ग से लगाकर नव ग्रैवेयक तक में जो असंख्यात देव हैं, उनमें सम्यग्दृष्टि अधिक हैं और मिथ्यादृष्टि थोड़े हैं।

आत्मद्रव्य की अचिंत्य शक्ति

(३७) प्रश्न—संख्यात-अपेक्षा बड़े से बड़ा 'अनंत' कौन ?

उत्तर—केवलज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेद सबसे महान 'अनंत' है। 'अलोकाकाश के प्रदेश वगैरह जैसे दूसरे अनंत की अपेक्षा वे अनंतगुणे' ऐसा कहकर भी उसका माप दिया जा सकता नहीं। आत्मद्रव्य की यह कोई अचिंत्य शक्ति है। जैसे 'विकल्प' से उसकी शक्ति का पार नहीं पाया जा सकता, वैसे 'गणित' से भी उसकी शक्ति का पार नहीं पाया जा सकता।

धर्म का मर्म

(३८) प्रश्न—धर्म का मर्म क्या है ?

उत्तर—आत्मा अपने स्वभाव सामर्थ्य से सदा परिपूर्ण है, और 'पर' से बिल्कुल जुदा है। क्षणिक राग और अपूर्णज्ञानादि जितना नहीं है। ऐसे स्व-पर की भिन्नता को जानकर अखंड स्वद्रव्य के अनुभव से आत्मा शुद्धता को पाये, वह धर्म का मर्म है।

मोक्ष

(३९) प्रश्न—मोक्ष अर्थात् क्या ?

उत्तर—अपने स्वभाव की पूर्ण प्राप्ति द्वारा (अर्थात् प्रगटरूप से) दु:ख और दु:ख के कारणों से आत्मा अत्यंतपने मुक्त हो जाये-इसका नाम मोक्ष। स्वभाव की प्राप्ति का उपाय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

अनुभव

(४०) प्रश्न—अनुभव द्रव्य का है या पर्याय का है।

उत्तर—अनुभव तो पर्याय का है किंतु अनुभव में अकेला द्रव्य अथवा अकेली पर्याय नहीं, लेकिन स्वसन्मुख झुककर पर्याय, द्रव्य के साथ तद्रूप हुई है, और द्रव्य-पर्याय के बीच भेद नहीं रहा-ऐसी जो दोनों की अभेद अनुभूति, वह अनुभव है। द्रव्य-गुण नित्य सामान्य है वर्तमान व्यक्त पर्याय विशेष को अंतर्मुख करना है। अत: द्रव्य-पर्याय के बीच भेद रहे, वहाँ तक निर्विकल्प अनुभव नहीं होता।

प्रवचन वत्सलत्व

आचार्यवर श्री स्वामी समंतभद्राचार्य कृत श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार शास्त्र पर आदरणीय पंडित श्री सदासुखदासजी कृत भाषा वचनिका है, उनमें से प्रवचनवत्सलत्व का वर्णन यहाँ दिया जाता है—

प्रवचन जो देव-गुरु-धर्म, इनमें वात्सल्य अर्थात् प्रीतिभाव, वह प्रवचनवत्सलत्व है। जो चारित्रगुणयुक्त हैं, शील के धारक हैं, परम साम्यभावसहित, बाईस परीषहों के सहनेवाले, देह में निर्ममत्व, समस्त विषयों की वांछा से रहित, आत्महित में उद्यमी, पर के उपकार करने में सावधान, ऐसे साधुजनों के गुणों में प्रीतिरूप परिणाम, सो वात्सल्य है तथा व्रतों के धारक, पाप से भयभीत, न्यायमार्गी, धर्म में अनुराग के धारक, मंदकषायी, संतोषी ऐसे श्रावक-श्राविका उनके गुणों में, उनकी पवित्र संगति में अनुराग धारण करना, वह वात्सल्य है। जो जीव स्त्री पर्याय में व्रतों की मर्यादा में पूर्ण है, समस्त परिग्रहादि त्यागी एक वस्त्रमात्र परिग्रह का आश्रय करि भूमिशयन, क्षुधा-तृषा, शीत, उष्णादि परीषहों के सहन करके संयम सहित ध्यान, स्वाध्याय, सामायिकादिक आवश्यकों सहित अर्जिका की दीक्षा ग्रहण करके संयम सहित काल व्यतीत करते हैं, उनके गुणों में अनुराग, वह वात्सल्यभाव है। तथा मुनिश्वरों की जैसे वन में निवास करके बाईस परीषह सहन करते हैं, उत्तम क्षमादि धर्म के धारक, देह में भी निर्ममत्व, अपने निमित्त बनाया गया औषध आहार अन्नपानादि को ग्रहण करते नहीं, एक कोपीन वस्त्र बिना समस्त परिग्रह के त्यागी, उत्तम श्रावकों में अनुराग, वात्सल्य है। तथा देव-गुरु-धर्म के सत्यार्थ स्वरूप को जानकर दृढ़ श्रद्धानी, धर्म में रुचि के धारक अव्रत सम्यग्दृष्टि में वात्सल्यता कीजिये।

अब उल्लेखनीय खास बात बताते हैं

इस संसार में अपने स्त्री, पुत्र, कुटुम्बादिक में तथा देह में, इन्द्रियों के विषयों के साधनों में अनादि से अति अनुरागी होकर उन्हीं के लिय कटै है—मरता है, अन्य को मारता है, ऐसा कोई मोह का अद्भुत महात्म्य है। वह धन्य पुरुष है जो सम्यग्ज्ञान द्वारा मोह को नष्ट करके आत्मगुणों में वात्सल्यता करता है। **संसार तो धन की लालसा द्वारा अति आकुल होकर धर्म में**

वात्सल्यता का त्याग करते हैं। संसारियों के धन बढ़ता है, तब अति तृष्णा बढ़ती है। समस्त धर्ममार्ग को भूल जाते हैं, **धर्मात्माओं के प्रति वात्सत्यता तो दूर से ही छोड़ देते हैं,** रात्रि-दिन धन संपदा के बढ़ाने में ऐसा अनुराग बढ़ाता है कि लाखों का धन हो जाये तो कोट्याधिपति होने की वांछा करता हुआ आरंभ परिग्रह को बढ़ाता हुआ, पाप कार्यों में प्रवीणता बढ़ाता है और धर्मकार्यों में वात्सल्य नियम से छोड़ता है, जहाँ दानादिक में परोपकार में धन लगावने का प्रसंग देखा जाये, तहाँ दूर से ही टाल दे-निकल जाये और बहुत आरंभ, बहुत परिग्रह अति तृष्णा से **पाप के फल जो नरकवास निकट आया, उसको भी देखता नहीं, मानता नहीं। उसमें भी पंचम काल का धनाढ्य है, वह तो पूर्वभव में मिथ्याधर्म, कुपात्रदान, कुदानादि में रुचि,** ऐसे (पापानुबंधी पुण्य) कर्म बाँधकर आया है कि वह नरक, पशु गति की परिपाटी (परंपरा) को असंख्यकाल-अनंत काल तक छूटेगी नहीं। उनका तो तन-मन-वचन-धन धर्मकार्य में लगते नहीं। रात-दिन तृष्णा और आरंभ से क्लेशमय रहता है। उनके धर्मात्मा और धर्म के धारण में कदाचित् वात्सल्यता होती नहीं, और धनरहित धर्मात्मा पण होय उनको नीचा माने, इसलिये हे आत्मा! यदि तू हित के वांछक हो तो धन संपदा को महामद की उत्पन्न करनेवाली जानकार, देह को अस्थिर दुखदाता जान, कुटुंब को महाबंधन मान, उनसे प्रीति छोड़कर अपने आत्मा का वात्सल्य प्रगट करो।

धर्मात्मा में, व्रतियों में, स्वाध्याय में, जिनपूजन में वात्सल्यता करो। जो सम्यक् चारित्ररूप आभूषण से भूषित साधुजन हैं, उनको जो जीव स्तवन करता है-गौरव करता है उनके वात्सल्य नामक गुण है और वह सुगति की प्राप्ति करता है, दुर्गति का नाश करता है, वात्सल्य गुण के प्रभाव से ही समस्त द्वादशांग विद्या सिद्ध होती है, अतः सिद्धांत सूत्र में और सिद्धांत का उपदेशक उपाध्याय में सांची भक्ति के प्रभाव से श्रुतज्ञानावरण कर्म का रस (अनुभाग) सूख जाये और सकल विद्या सिद्ध हो जाती है।.....

[एक समयमात्र की भूल उनके फल में (जहाँ तक उपादान न सुलटे वहाँ तक) अनंत काल संसार भ्रमण के अमाप दुःख जो स्वयं को भोगने पड़ेंगे, पाप में भी कोई साझीदार नहीं है ऐसा जानने पर भी मोहवश मानता नहीं—तेरी उद्धतता भी बड़ी है।]

[चक्रवर्ती की समस्त संपदा से इस मनुष्य पर्याय का एक समय अमाप मूल्यवान है अहो, ऐसा अवसर पाकर जो जीव अपने में ज्ञायकस्वभावी आत्मा को ध्यान में नहीं लेता-अनंत बार धिक्कार।]

तीव्र आरंभ परिग्रह में क्या होता है ?

अंतर मलिन होय निज जीवन, विनसे धर्मतरूवर मूल;
किलसे दयानीति नलिनी वन धरे लोभ सागर तन स्थूल ॥
कलह गयंद उपजायवे को विध्यगिरि;
कोप गीध के अधायवे को समशान है ॥
संकट भुजंग के निवास करिवे को बिल,
वैरभाव चौर को महानिशा समान है ॥
कोमल सुगुन धन खंडवे को महा पौंन,
पुण्यवन दाहिवे को दावानल दान है ।
नित निरज नसायवे को हिमराशि,
ऐसो परिग्रह राग दु:ख को निधान है ॥४२ ॥

बनारसी विलास, पृष्ठ ३८

प्रशम को अहित, अधीरज का बाल हित;
महामोह राजा की प्रसिद्ध राजधानी है ।
भ्रम को निधान दुरध्यान को विलास वन;
विपत को स्थान अभिमान की निशानी है ॥
दुरित को खेत रोग शोग उतपति हेत;
कलह निकेत दुरगति को निदानी है ।
ऐसो परिग्रह भोग सबनिको त्याग जोग;
आतम गवेषी लोग याही भाँति जानी है ॥४३ ॥
ज्यों अगनि न अघाय; पाय ईंधन अनेक विधि;
ज्यों सरिता धन नीर; तृपति नहीं होय निरनिधि ॥
त्यों असंखधन बढत; मूढ संतोष न मानहिं ।
पाप करत नहिं डरत; बंधकारन मन आनहिं ॥
प्रत्यक्ष विलोकि जनम-मरण; अथिररूप संसार क्रम ।
समुझै न आप परतापगुन; प्रगट 'बनारसि' मोहभ्रम ॥

अनुभव की प्रेरणा

अनुभव करो और मोह को छोड़ो!

हे भव्य! इसी समय स्वानुभव का उत्तम चौघड़िया है, यही शुभ मुहूर्त है... जब स्वानुभव करे, तभी स्वानुभव का सर्वोत्तम काल है। इसलिये जगत के जाल का जंजाल तोड़कर तू स्वानुभव के अभ्यास में लग जा.... स्वानुभव के लिये संतों के प्रताप से अवसर आ चुका है।

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढ़ं,
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत।
इह कथमपि नात्माऽनात्मना साकमेकः
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम्॥

जगत को सम्बोधकर कहते हैं कि—हे जगत! अर्थात् संसार के समस्त जीवों! तुम ज्ञान के रसिक होकर पर के साथ की एकता के मोह को छोड़ो; मिथ्यात्व परिणाम को सर्वथा छोड़ो। कब?—तो कहते हैं तत्काल.... इसी समय... अभी हाल छोड़ो। इसी समय उसे छोड़ने का अवसर है।

वाह! देखो यह स्वानुभव की प्रेरणा! इसी समय ऐसा स्वानुभव करो, स्वानुभव का यह अवसर है।

आत्मा, पर के साथ कभी एकमेक नहीं हो गया है, तथापि मोह के कारण जीव उसके साथ एकत्व मान बैठे हैं.... उनसे कहते हैं कि अरे जीवो! यह मोह को छोड़ने का अवसर आया है, चैतन्यानंद का अनुभव करने का यह उचित अवसर आया है; इसलिये स्वानुभव के रसिक बनकर तत्काल इसी समय-अभी हाल मोह को छोड़ो! जहाँ अंतर में शुद्ध आत्मा को लक्ष में लेकर उसका रसिक-रुचिवान हुआ, वहाँ क्षणमात्र में मोह छूट सकता है। मोह कब छूटेगा? ऐसे विचार की बात नहीं है। अरे, इसी समय मोह को छोड़ने का अवसर है, स्वानुभव का उत्तम चौघड़िया यही है।

प्रवचनसार में भी अमृतचंद्राचार्यदेव ने कहा है कि—स्याद्वाद विद्या के बल से

विशुद्धज्ञान की कला द्वारा इस एक पूर्ण शाश्वत स्वतत्त्व को प्राप्त करके आज ही भव्य जीव परम आनंदरूप परिणमित होओ।

पूर्ण स्वतत्त्व अभी विद्यमान है, इसी समय उसका अनुभव करो। वर्तमान में कठिन काल है या प्रतिकूलता है, ऐसे बहाने न बनाओ परंतु आज ही स्वतत्त्व को अनुभव में लो। पुनः भी कहते हैं कि हमने अनंत महिमावंत चैतन्यतत्त्व का बहुत-बहुत स्पष्टीकरण करके बतलाया, ऐसे चैतन्य का ही आज स्वयं प्रबलरूप से अनुभव करो, उग्र शुद्धि द्वारा आज ही अत्यंत अनुभव करो। इस लोक में चैतन्य ही एक परम उत्तम तत्त्व है, दूसरा कुछ उत्तम नहीं है।

अहो, संतों ने ऐसा तत्त्व लक्षगत कराया है, इसलिये हे भव्य जीवो! तुम अविलंब-आज ही उसका अनुभव करो। भवभ्रमण से छूटने के लिये स्वानुभव का यह उत्तम अवसर है। जब स्वानुभव करे, तभी उत्तम घड़ी है। स्वानुभव से उत्तम घड़ी जगत में दूसरी कौन है? वह घड़ी सफल है, वह घड़ी धन्य है!

कुएँ में गिर गया हो और बाहर निकलना हो, वहाँ क्या कोई चौघड़िया देखने के लिये रुकेगा? अथवा कोई वादा करेगा कि अभी नहीं, फिर निकलेंगे, अच्छा चौघड़िया आने दो?- नहीं; वहाँ तो तुरंत ही बाहर निकलता है; उसीप्रकार हे जीव! तू अनादि से मिथ्यात्व के कुएँ में पड़ा है, अब उसमें से तत्क्षण बाहर निकल; एक सूक्ष्म काल-किंचित् काल भी उस मिथ्यात्व का आदर करने योग्य नहीं है। 'इस समय नहीं, फिर अनुभव करेंगे; अभी दूसरे सब काम कर लें, फिर अनुभव करेंगे और मोह छोड़ेंगे'—इसप्रकार जो वादे करता है, उसे स्वानुभव का सच्चा प्रेम जागृत नहीं हुआ है; मोह का दुःख उसे नहीं लगता है। अरे, क्या दुःख से छूटने के लिये वादे किये जाते होंगे?.... नहीं; मोह को सर्वथा छोड़ो और स्वानुभव के प्रत्यक्ष सुख का तुरंत आस्वादन करो। उसका अवसर इसी समय है। सब अवसर आ चुका है। ज्यों ही कान में बात पड़े और भिन्नता का ख्याल आये कि तुरंत ही शुद्धात्मा का अनुभव करने जैसा है तथा मोह छोड़ने जैसा है। शुद्ध ज्ञान का आस्वाद अत्यंत सुखकारी है। रसिक जीवों को अर्थात् शुद्धस्वरूप के अनुभवशील सम्यग्दृष्टि जीवों को स्वानुभव का सुख अत्यंत प्रिय है, स्वानुभव के उस स्वाद के निकट जगत के समस्त पदार्थों का स्वाद उड़ गया है। इसलिये हे जीवो! स्वानुभव के आनंदरस का इसी समय आस्वादन करो, एक क्षण भी मिथ्या भाव का आदर मत करो, उसे तत्काल सर्वथा छोड़ो!

अंतर में जहाँ स्वभाव और परभाव की भिन्नता का भान हुआ कि तुरंत ही परभाव के

साथ की एकत्वबुद्धि को अत्यंत-जड़मूल से छोड़कर, शुद्ध चैतन्यवस्तु का प्रत्यक्ष आस्वादन करो। उस चैतन्य वस्तु का स्वाद परम सुखकारी है। जो आत्मा का रसिक बने, उसे अपूर्व आनंद आये बिना नहीं रहता। मेंढ़क या हाथी, सिंह या चीता, गाय या बकरी, नारकी, देव, मनुष्य, आठ वर्ष के बालक या वृद्ध स्त्री-पुरुष—सर्व जीवों से कहते हैं कि इसी समय मोह को छोड़कर शुद्ध आत्मा का अनुभव करो। आत्मा के रसिक हों, उन सबसे ऐसा अनुभव हो सकता है और जिन्हें शुद्ध ज्ञानस्वरूप की रुचि हुई, उन्हें उसके परम आनंद का साक्षात् स्वाद आता है। अकेला अनुमानगोचर बना रहे और साक्षात् अनुभवरूप न हो—ऐसा नहीं है; उसका रसिक होना चाहिये। उसका रसिक होकर अर्थात् जगत का रस छोड़कर स्व में एकत्व कर और पर के साथ का एकत्व छोड़—तत्क्षण छोड़; ऐसा करने से तत्क्षण तुझे चैतन्य के परम आनंद का साक्षात् अनुभव होगा।

प्रश्न—ऐसा करने से क्या फल आयेगा? क्या कार्यसिद्धि होगी?

उत्तर—प्रथम तो महादु:खदायी ऐसे मोह का त्याग होता है और ज्ञानानंदस्वरूप के अपूर्व सुख का अनुभव होता है।—इसप्रकार सुख की अस्ति और मोह की नास्ति अर्थात् आनंद की प्राप्ति और मोह का त्याग—ऐसी कार्यसिद्धि होती है, यह उत्तम फल है। बारंबार ऐसे स्वानुभव का अभ्यास करने से विभावपरिणाम या कर्म का संबंध जीव के साथ एक क्षण भी नहीं रहेगा, वह जीव से भिन्नरूप ही रहेगा। एकबार स्वानुभव से एकत्वबुद्धि छूटी सो छूटी, पुन: कभी उसमें एकत्वबुद्धि नहीं होना है। परिणति परभाव से पृथक् हुई सो हुई, अब उस परिणति में रागादि परभाव या कर्म बंधन कभी एकमेक होनेवाले नहीं हैं, एक समय भी वे आत्मा में नहीं टिक सकते; किसी प्रकार आत्मा के साथ उनकी एकता नहीं होगी। देखो, यह स्वानुभव द्वारा कार्यसिद्धि हुई; इसी समय मोह का नाश करके ऐसी कार्यसिद्धि करो।—इसप्रकार स्वानुभव की जोरदार प्रेरणा दी है।

धर्मी जीव को भेदज्ञान हुआ, स्वानुभव हुआ और मोह टूटा—अब परभाव कभी स्वरूप में प्रविष्ट नहीं होंगे, परभावों के साथ कभी एकता नहीं होगी; ज्ञान कभी रागादि के साथ तन्मय होनेवाला नहीं है; ज्ञान सदा ज्ञानरूप ही रहेगा; स्व में ही सदा एकत्व रहेगा। पहले अज्ञान से बन्धकरणशील था, उससे छूटकर अब स्वभाव का अनुभवनशील हुआ, वह अब पुन: क्षणमात्र भी बंधन के साथ एकत्व को प्राप्त नहीं होगा। स्वानुभव द्वारा मोह का नाश होने पर ऐसी अपूर्वदशा प्रगट हुई।

वचनामृत अपने लिये ही

'वित्तेषणा' एक रोग है, किंतु 'लोकैषणा' बहुत बुरा रोग है। जनरंजन-लोगों को राजी करने के लिये और लोगों से राजी होने के लिये इस जीव ने अनंतभव बिगाड़े, यदि एक भव ज्ञानी के अभिप्रायानुसार सम्यक्प्रकार से बनाया जाये तो अनंत भवभ्रमण का अंत हो जाता है।

❀ ❀ ❀

शिष्य ने आचार्य से गुरुकुलवास में विद्याध्ययन संपूर्ण करने के पश्चात् घर जाने की अनुमति माँगी। विवेकवंत आचार्य ने उसे सफल और सुखी होने का आशीर्वाद इस मंत्र के साथ दिया—

'प्रतिष्ठां' शूकरी विष्ठा, गौरवं घोररौरवम्।
अभिमानं, सुरापानं, त्रयं त्यक्त्वा सुखी भवेत'

अर्थ—प्रतिष्ठा को सूअर की विष्ठा के तुल्य समझकर बचते रहना, गौरव को साक्षात् रौरव नरक और अभिमान को मदिरा की तरह घृणित मानकर इनसे दूर रहना-बस, जीवन में सफल तथा सुखी होने का यही महामंत्र है।

❀ ❀ ❀

जो व्यक्ति सबसे, और सबसे ज्यादा सम्मान चाहता है, वही व्यक्ति दूसरों को सम्मान देना नहीं जानता।

हाँ; भूल मत जाना, अपमान के बारे में भी यही बात है - अभिमानी महानुभावों से प्रार्थना है कि आप किसी का सन्मान न करें तो न सही, किंतु अपमान न करें, क्रोध और मान (घमंड) का परस्पर अत्यंत संबंध है।

जिसे प्रशस्त कार्य में समय शक्ति और उत्साह नहीं है, वह प्रमाद अर्थात् निंद्य कार्य में दुर्लभ मानव-जीवन गँवा देता है। मानव के जीवन का जब ह्रास शुरु होता है, तब वह दूसरों की निंदा और अपने मुँह से अपनी प्रशंसा करने लगता है, अपना दोष पर के ऊपर लगाता है, जिनेन्द्रदेव की आज्ञा माने तो ऐसी अनीति संभव नहीं है।

वैराग्य लिया नहीं जाता, त्रैकालिक अराग स्वरूप की पहचान-ज्ञान-अनुभवरूप वैराग्य स्वतः आत्मा में जाग्रत होता है।

जब कोई तुम्हारी निंदा करता हो तो तुम उसे मुस्कराकर टाल दो, निंदक स्वयं अपनी

कषायजन्य पीड़ा का समाधान करता है, अज्ञानवश दु:ख का उपाय करके सुखी होने की आशा से अपने ज्ञान में तुच्छता करता है। मुझे वो स्वसन्मुख ज्ञान और धैर्य को सम्हालना और यही कर्तव्य है, ऐसी श्रद्धा निरंतर करने योग्य है।

जब कोई तुम्हारी प्रशंसा करता हो तो तुम गंभीरतापूर्वक समझो, और सावधान होकर चलो।

सोचो, कहीं उस प्रशंसा के माध्यम से वह तुम्हें अपना हथियार तो नहीं बना रहा है ? या हथियार तेज करना तो नहीं चाह रहा है ?

सुप्रसिद्ध अमरिकन लेखक बैंजामिन ने आत्मकथा में लिखा है कि—भलाई का अनुचित लाभ लेकर मेरा समय, शक्ति और उत्साह को मात्र प्रशंसा द्वारा वह खा गया था, लंबी कथा है–बड़ा होने के बाद जब कभी कोई उसकी प्रशंसा करता, तो उसे तुरंत ख्याल आता कि जरूर यह अपने स्वार्थ में साधन बनाना चाहता है या अपना औजार तेज करना है। वह फिर कभी किसी की खुशामद के जाल में नहीं फंसा।

पराई आशा सदा निराशा। पर निमित्तों के पीछे पड़नेवाले पर के मुँह ताकते हैं, अपना सामर्थ्य खोते हैं, जो निज महिमावंत पद को भूले हैं, वह पराश्रय की श्रद्धा में अपने मानव जीवन को बरबाद करते हैं।

ज्यादा मांगे बड़ा भिखारी, थोड़ा मांगे वह छोटा भिखारी, अकिंचन को आनंद मंगल, किस्मत से ज्यादा मिलता नहीं, समय के पहले मिलता नहीं, फिर क्लेश करने से क्या लाभ ?

जब किसी व्यक्ति की प्रतिष्ठा की गाथाएँ सुनकर तेरे मन में ईर्ष्या जग पड़ती है, उसके विशेषण और गुण ग्राम सुनकर या पढ़कर तेरा क्रोध उबल पड़ता है, तब तू यह जानने का प्रयत्न कर कि वे विशेषता उसके पास आई कहाँ से ? और किस प्रशस्त प्रयत्न के द्वारा उसकी प्राप्ति हुई ?

बस, तेरी ईर्ष्या, उस मार्ग को छोड़कर प्रशस्त उपाय की खोज में लगेगी, आगे बढ़ने का मार्ग मिलेगा, और एक दिन वे विशेषण, और पदवियाँ तुम्हारे पास प्रार्थना करने को आयेंगे, और तू उनसे भी ऊपर उठ जायेगा।

(इसमें धर्म प्रेमी मित्रों और पत्रों में से मैंने आधार लिया है। अत: उनका आभार मानता हूँ।)

—संग्राहक ब्रह्मचारी गुलाबचंद जैन

निर्विकल्प अनुभव

निर्विकल्प अनुभव से ही साधकदशा का प्रारंभ होता है। उस दशा का आनंद ऐसा है कि जिसका विकल्प से भी चिंतवन नहीं किया जा सकता। निर्विकल्प अनुभव के समय ज्ञान अतीन्द्रिय होकर प्रत्यक्ष स्वानुभव करता है, उस काल के आनंद की तो मुख्य विशेषता है, उसकी अचिंत्य महिमा है। स्वानुभव की ऐसी महिमा सुनकर किसी को ऐसा लगे कि ऐसा अनुभव तो किन्हीं बड़े-बड़े मुनियों को ही होता होगा! हम जैसे गृहस्थों को ऐसा अनुभव कैसे हो सकता है? उसका समाधान करते हुए यहाँ बतलाया है कि ऐसा निर्विकल्प स्वानुभव चौथे गुणस्थान से ही प्रारंभ होता है; ऐसा अनुभव हो, तभी चौथा गुणस्थान होता है। ऐसा अनुभव होने के पश्चात् गुणस्थानानुसार परिणाम की स्थिति और मग्नता बढ़ती जाती है। ऐसा स्वानुभव करने की तैयारीवाले जीव की दशा कैसी होती है, वह भी इसमें बतलाया है। जीव को शुद्धात्मा के चिंतन का अभ्यास करना चाहिये। अनुभव के काल में श्रावक को मुनि समान माना है। संसार में चाहे जैसे क्लेश अथवा प्रतिकूलता के प्रसंग आयें, परंतु जहाँ चैतन्य के ध्यान की स्फुरणा हुई, वहाँ वे समस्त क्लेश दूर भागते हैं। चैतन्य के चिंतन में अकेली आनंद की ही धारा बहती है। अनुभवी जीव के अंतर की दशा ही कुछ और होती है।

प्रश्न—ऐसा अनुभव किस गुणस्थान में कहा है?

समाधान—चौथे गुणस्थान से ही ऐसा अनुभव होता है; परंतु चौथे गुणस्थान में तो अधिक काल के अंतर से होता है, जबकि ऊपर के गुणस्थानों में जल्दी-जल्दी होता है।

चौथे गुणस्थान का प्रारंभ ही ऐसे निर्विकल्प स्वानुभवपूर्वक होता है। सम्यग्दर्शन कहो, चौथा गुणस्थान कहो, या धर्म का प्रारंभ कहो, वह ऐसे स्वानुभव के बिना नहीं होता। स्वानुभव को प्रत्यक्ष कहा, उसमें अतीन्द्रिय वचनातीत आनंद कहा, उसमें कोई विकल्प नहीं है, ऐसा कहा—इसलिये किसी को प्रश्न उठे कि ऐसा उच्च-अतीन्द्रिय, प्रत्यक्ष स्वानुभव किसे होता होगा? तो कहते हैं कि ऐसा अनुभव चौथे गुणस्थान से ही होता है। ऐसी निर्विकल्प आनंददशा गृहस्थदशा में विद्यमान सम्यग्दृष्टि को भी मति-श्रुतज्ञान द्वारा होती है। चौथे गुणस्थान में

विशेष-विशेष काल के अंतर से कभी-कभी ऐसा अनुभव होता है। पहली बार जब चौथा गुणस्थान प्रगट हुआ, तब तो निर्विकल्प अनुभव हुआ ही था, परंतु फिर से ऐसा अनुभव अमुक विशेष काल के अंतर से होता है और फिर ऊपर-ऊपर के गुणस्थान में वैसा अनुभव बारंबार होता है। पाँचवें गुणस्थान में चौथे गुणस्थान की अपेक्षा अल्प-अल्पकाल के अंतर से अनुभव होता है, (चतुर्थ गुणस्थानवर्ती किसी जीव को कभी तुरंत ही ऐसा अनुभव हो, वह अलग बात है। चतुर्थ गुणस्थान में ज्यादा से ज्यादा कितने काल के अंतर पश्चात् स्वानुभव उपयोगरूप होता है—इस संबंधी कोई निश्चित काल शास्त्र में देखने में आया नहीं है।) और छट्ठे-सातवें गुणस्थानवर्ती **मुनि के लिये तो नियम है कि अंतर्मुहूर्त में विकल्प टूटकर निर्विकल्प उपयोग होता ही है;** नहीं तो मुनिदशा ही स्थिर न रहे। मुनिदशा में कभी ऐसा नहीं होता कि दीर्घकाल तक निर्विकल्प अनुभव न आये और बाह्य प्रवृत्ति में (सविकल्पदशा में) ही रहा करें। वहाँ तो अंतर्मुहूर्त में नियम से निर्विकल्प ध्यान होता ही है। मुनिदशा में कोई जीव भले ही लाखों-करोड़ों वर्ष तक रहे और इस बीच छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान बारंबार निरंतर अंतर्मुहूर्त में आता रहे—इसप्रकार समुच्चयरूप से उसे छठवें गुणस्थान काल भले ही लाखों-करोड़ों वर्ष हो जाये परंतु एक साथ अंतर्मुहूर्त से विशेष काल छठवाँ गुणस्थान रह ही नहीं सकता। छठवें गुणस्थान का काल ही अंतर्मुहूर्त से अधिक नहीं है, फिर दीर्घ काल तक निद्रा लेने की तो बात ही कहाँ रही? भगवान ने छठवें गुणस्थान का जो उत्कृष्ट काल कहा है, वह उत्कृष्ट काल भी ऐसे जीव को ही होता है कि जो वहाँ से पुनः मिथ्यात्व में जानेवाला हो। दूसरे जीवों को ऐसा उत्कृष्ट काल नहीं होता, उन्हें तो उससे अल्प काल में ही विकल्प टूटकर सातवाँ गुणस्थान आ जाता है। मुनि बारंबार निर्विकल्प रस का पान करते हैं।

अहो, निर्विकल्पता तो अमृत है।

सर्व मुनियों को सविकल्पता के समय छठवाँ और क्षण में निर्विकल्प ध्यान होने पर सातवाँ गुणस्थान होता है। जिसप्रकार सम्यग्दर्शन निर्विकल्प स्वानुभवपूर्वक प्रगट होता है, उसीप्रकार मुनिदशा भी निर्विकल्प ध्यान में ही प्रगट होती है, पहले ध्यान में सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है और फिर विकल्प उठने पर छठवाँ आता है। मुनि को तो बारंबार निर्विकल्प ध्यान होता है; वे तो केवलज्ञान के एकदम निकट के पड़ौसी हैं। अहा! बारंबार शुद्धोपयोग के आनंद में झूलते हुए उन मुनि की अंतर दशा की क्या बात! अरे, सम्यग्दृष्टि श्रावक को भी ध्यान

के समय तो मुनि जैसा माना है। मैं श्रावक हूँ या मुनि हूँ—ऐसा कोई विकल्प ही उसे नहीं है, उसे तो ध्यान के समय आनंद के वेदन में ही लीनता है। चौथे गुणस्थान में ऐसा अनुभव कभी-कभी होता है, फिर ज्यों-ज्यों भूमिका बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों काल अपेक्षा से बारंबार होता है और भाव अपेक्षा से लीनता बढ़ती जाती है।

चौथे गुणस्थान में स्वानुभव दीर्घ काल के अंतर से होना कहा और ऊपर के गुणस्थान में वह जल्दी-जल्दी होना कहा—इसप्रकार गुणस्थानानुसार मात्र काल के अंतर की ही अनुभव में विशेषता है या दूसरी कोई विशेषता है ?—तो कहते हैं कि परिणामों की लीनता में भी विशेषता है। स्वानुभव का प्रकार (जाति) तो सर्व गुणस्थानों में एक है, उस काल में चैतन्य स्वभाव में ही सबका उपयोग लगा हुआ है परंतु उसमें परिणाम की मग्नता गुणस्थानानुसार बढ़ती जाती है। सातवें गुणस्थान में स्वानुभव में जैसी लीनता है, वैसी तीव्र लीनता चौथे गुणस्थान में नहीं है; इसप्रकार दोनों को निर्विकल्पता होने पर भी परिणाम की मग्नता में विशेषता है। जिसप्रकार कोई दो पुरुष समान क्रिया करते हों—भगवान का नाम लेते हों, स्नान करते हों, या भोजनादि करते हों—दोनों के परिणाम उसमें लगे हों, तथापि दोनों के परिणामों की एकाग्रता में अंतर होता है; किसी के परिणाम उसमें मंदरूप से लगे होते हैं और किसी के तीव्ररूप से लगे होते हैं; वहाँ दोनों का उपयोग तो एक ही कार्य में लगा है परंतु एक के परिणाम उस कार्य में मंदरूप से वर्तते हैं और दूसरे के परिणाम उसमें तीव्ररूप से वर्तते हैं; उसीप्रकार चौथे गुणस्थान में निर्विकल्पता होती है और सातवें गुणस्थान में निर्विकल्पता होती है—वहाँ उन दोनों का उपयोग तो आत्मा के अनुभव में ही लगा है, परंतु चौथे की अपेक्षा सातवें गुणस्थान में स्वरूप में परिणाम की मग्नता अधिक है; अंतर में अबुद्धिपूर्वक होनेवाला राग अतिमंद है। चौथे गुणस्थान में स्वानुभव के समय भी अंतर में अबुद्धिपूर्वक (भले ही मंद) तीन कषाय चौकड़ी विद्यमान हैं और सातवें गुणस्थान में मात्र एक संज्वलन कषाय चौकड़ी ही शेष है। स्वानुभव में परिणामों की लीनता ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों कषायों का अभाव होता जाता है।

इसप्रकार स्वानुभव की गुणस्थानानुसार विशेषता जानना। ज्यों-ज्यों गुणस्थान बढ़ता जाये, त्यों-त्यों कषाय कम होते जाते हैं और स्वरूप में लीनता बढ़ती जाती है। धर्मी को गुणस्थानानुसार जितनी शुद्धि तथा जितनी वीतरागता हुई, उतनी शुद्धि और वीतरागता तो पर

की ओर उपयोग के समय भी बनी रहती है और उतना बंधन तो उसे होता ही नहीं। चौथे गुणस्थान में निर्विकल्प ध्यान में हो, तथापि वहाँ अनंतानुबंधी को छोड़कर तीनों कषाय का अस्तित्व है और छट्ठे गुणस्थान में शुभ विकल्प में वर्तते हों, तथापि वहाँ अप्रत्याख्यानावरण या प्रत्याख्यानावरण कषाय नहीं है, मात्र संज्वलन कषाय है; इसलिये जो स्वानुभूति में न हो; इसलिये उसे दूसरों की अपेक्षा अधिक कषाय होते हैं, ऐसा नहीं है; परंतु इतना अवश्य है कि एक ही भूमिकावाले जीव को सविकल्पदशा में जितने कषाय होते हैं, उसकी अपेक्षा निर्विकल्पदशा में अति मंद भी हो जाते हैं। चौथे गुणस्थान में स्त्री-पुत्रादिवाले श्रावक को, अरे, आठ वर्ष की बालिका को या तिर्यंच को भी उस निर्विकल्पदशा के समय बुद्धिपूर्वक के समस्त राग-द्वेष छूट जाते हैं। मात्र चैतन्यपिण्ड-आनंद के सागर से उल्लसित और शरीर से भिन्न अनुभव में आता है। इसलिये ऐसे ध्यान के समय तो श्रावक को भी मुनिसमान माना है। उस ध्यान में ज्ञानादि की निर्मलता तथा परिणाम की स्थिरता भी बढ़ती जाती है।

ज्ञानी संसार में गृहस्थदशा में हो, अमुक राग-द्वेष-क्रोधादि क्लेश परिणाम होते हों, परंतु उसे उनकी लार बढ़ती नहीं जाती; संसार के चाहे जैसा क्लेश प्रसंग या प्रतिकूलता आ जाये, परंतु जहाँ चैतन्य के ध्यान की स्फुरणा हुई, वहाँ वे सब क्लेश कहीं भाग जाते हैं... चाहे जैसे प्रसंग में भी उसके श्रद्धा-ज्ञान उलझ नहीं जाते। जहाँ चिदानंद-हंस का स्मरण किया, वहाँ दुनिया के समस्त क्लेश दूर भाग जाते हैं; तो उस चैतन्य के अनुभव में क्लेश कैसा? उसमें तो अकेला आनंद है..... अकेली आनंद की ही धारा बहती है। इसलिये कहते हैं कि अरे जीवो! इस चैतन्यस्वरूप के चिंतन में क्लेश तो किंचित्मात्र नहीं है और उसका फल महान है, उसके चिंतन में महान सुख की प्राप्ति होती है, तो उसका क्यों चिंतवन नहीं करते? क्यों उपयोग को बाह्य में ही भटकाते हो? ज्ञानी को बाह्य में दूसरा सब भले ही दिखायी दे परंतु अंतर में चैतन्य की जड़ी-बूटी को हाथ में रखा है; संसार के विष को उतार देनेवाली यह जड़ी-बूटी है; इसे सूँघते ही उसके संसार की थकान क्षणभर में उतर जाती है।

जीव को शुद्धात्मा के चिंतन का अभ्यास करना चाहिये। जिसे चैतन्य के स्वानुभव का रंग लग जाये, उसे संसार का रंग उतर जाता है। भाई, तू अशुभ और शुभ दोनों से दूर हो, तब शुद्धात्मा का चिंतन होगा। जो अभी पाप के तीव्र कषायों से भी निवृत्त नहीं हुआ, देव-गुरु की भक्ति, धर्मात्मा का बहुमान, साधर्मियों का प्रेम आदि अत्यंत मंदकषाय की भूमिका में भी जो

नहीं आया, वह अकषायी चैतन्य का निर्विकल्प ध्यान कहाँ से करेगा ? प्रथम सर्व कषायों का (शुभ-अशुभ का) रंग अंतर से उड़ जाता है.... जहाँ उसका रंग उड़ जाये, वहाँ उसकी अत्यंत मंदता तो सहज ही हो जाती है, और फिर चैतन्य का रंग चढ़ने पर उसकी अनुभूति प्रगट होती है। परिणाम को शांत किये बिना यों ही अनुभव करना चाहे तो नहीं हो सकता। अहा, अनुभवी जीव की अंतर की दशा कुछ दूसरी ही होती है।

इसप्रकार निर्विकल्प अनुभव का स्वरूप अनेक प्रकार से स्पष्ट किया। सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान में भी ऐसा अनुभव होता है, यह भी मुख्यरूप से बतलाया। इसप्रकार सम्यक्त्व की और स्वानुभव की अलौकिक चर्चा की। देखो, साधर्मी परस्पर सम्यग्दर्शन की एवं स्वानुभव की कैसी अच्छी चर्चा करते हैं, वह इसमें दिखलायी देता है। धर्मात्मा एक-दूसरे के साथ हों तो अनुभव की अलौकिक चर्चा करते हैं। जिसप्रकार दो व्यापारी मिलें तो व्यापार की और भावताव की बातें करते हैं, दो चोर मिलें तो चोरी की चर्चा करते हैं; उसीप्रकार दो धर्मात्मा मिलें तो वहाँ स्वानुभव की चर्चा होती है। जिसे जो बात प्रिय लगे, वह उसी का मंथन करता है। मुमुक्षु को स्वानुभव का स्वरूप समझकर सतत उसका अभ्यास ही कर्तव्य है।

लाख बात की बात यही निश्चय उर लाओ;
तौरि सकल जग दंद-फंद निज आतम ध्यावो॥

(पंडित दौलतरामजी)

जैनदर्शन शिक्षण शिविर

सोनगढ़—हर साल माफिक जैनदर्शन शिक्षण शिविर इस साल भी श्रावण सुदी ५ तारीख १०-८-६७ से २९-८-६७ भाद्रपद बदी ९ तक २० दिन चलेगा। इससे लाभ लेने के इच्छुक जैन बंधुओं को सादर हार्दिक आमन्त्रण है। आने के पूर्व पत्र द्वारा सूचना भेजना जरूरी है। यह कक्षायें मात्र पुरुषों के लिये हैं।

पता—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुमुक्षु की जीवन-भावना

[मुमुक्षु को जीवन में सदा कैसी भावना होती है, उसके दस बोल]

(१) मैंने अपने जीवन में संतों की सेवा का तथा आत्मा की साधना का ध्येय अपनाया है।

(२) अपने इस सर्वोच्च ध्येय की सिद्धि के लिये उत्कृष्ट उत्साहपूर्वक मुझे दिन-रात उद्यम करना है।

(३) ऐसे उद्यमवंत साधर्मीजनों के प्रति अत्यंत वात्सल्य-भावपूर्वक वर्तन करूँगा।

(४) अपने ध्येय को साधने के लिये ज्ञान भावना एवं वैराग्य भावना यह दो मेरे सदा साथी हैं। इनकी सहायता से मैं अपने ध्येय को सदा ताजा रखूँगा।

(५) जीवन में सुख-दुःख की चाहे जैसी उथल-पुथल होने पर भी मैं अपने ध्येय को कभी शिथिल नहीं होने दूँगा; उसके लिये उत्तम पुरुषों के आदर्श जीवन को सदा अपनी दृष्टि के समक्ष रखूँगा और आराधना का उत्साह बढ़ाऊँगा।

(६) देव-गुरु-शास्त्र की सेवा के सत्कार्यों के लिये अपने जीवन को सदा उत्साहित रखूँगा और उल्लास परिणामसहित उनमें वर्तूंगा।

(७) यह जीवन आत्मसाधना के लिये ही है, इसलिये इसका एक क्षण भी निष्प्रयोजन न जाये और प्रमाद के बिना आत्मसाधना के लिये ही प्रत्येक क्षण व्यतीत हो, इसके लिये सतत जागृत रहूँगा। प्रतिदिन आत्मा की गहराई में उतरने का अभ्यास करूँगा।

(८) मेरे हित के लिये आचार्यदेव बारंबार कहते हैं कि अरे जीव! तू अपने स्वभाव की महिमा कर। चार गति के शरीरों एवं परभावों में वर्तना, वह लज्जा की बात है; अशरीरी आत्मा में उपयोग लगाकर उसे स्वविषय बनाकर उसमें स्थिर हो... तो यह लज्जाजनक जन्म छूट जायेंगे और क्षण-क्षण जो दुःख होता है, वह मिट जायेगा।

(९) निजस्वरूप की प्राप्ति वह आत्मार्थी का मनोरथ है। अपने स्वरूप के बिना आत्मार्थी को एक क्षण भी अच्छा नहीं लगता।

(१०) संत अपने को सदा कितनी आत्मप्रेरणा दे रहे हैं! मानों साक्षात् सम्यक्त्व ही प्रदान कर रहे हैं। उनके जीवन का सूक्ष्मता से अवलोकन करने पर ही सम्यक्त्व हो सकता है। ऐसे संत अपने समक्ष विराजमान हैं और हमारे ऊपर निरंतर महान कृपा कर रहे हैं। उस कृपा के प्रताप से हमें अपना स्वानुभव कार्य साध लेना है। जीवन में दूसरा सब भूलकर इस एक आत्मकार्य में ही अपनी शक्ति लगाना है।

पंच परमेष्ठी प्रभु को नमस्कार हो!

स्वरूप को साधने का उत्साह

चैतन्य की बात सुनते ही आत्मार्थी को अंदर से रोम-रोम पुलकित हो जाये... असंख्य प्रदेश आत्मा चमक उठे कि वाह ! अपने आत्मा की यह अपूर्व बात मुझे सुनने को मिली। कभी नहीं सुना था, ऐसा मेरा स्वरूप आज मेरे सुनने में आया; राग से जुदा ही स्वरूप है। इसप्रकार अंतर स्वभाव का उल्लास लाकर और बहिर्भावों का उत्साह छोड़कर जिसने स्वभाव का श्रवण किया, उसका बेड़ा (नाव) पार! उसके भाव में अपूर्व अंतर पड़ गया, स्वभाव और परभाव के बीच थोड़ी दरार पड़ गयी, वह अब दोनों को जुदा अनुभव करके ही रहेगा।

ऐसी अध्यात्म की बात सुननेवाले संत-गुरु भी महाभाग्य से मिलते हैं। अपने सिवाय दूसरे सबकी प्रीति छोड़कर मुझे तो ऐसा निजस्वरूप समझना ही है, इसका ही अनुभव करना है, ऐसी गहरी उत्कंठा जगाकर, उपयोग को जरा उस तरफ स्थिर कर, जिस जीव ने सुना, वह जीव स्वरूप को साधने के उत्साह में आगे बढ़कर जरूर स्वानुभव करेगा।

धन्य है उस अध्यात्मरसिक जीव को।

प्रभु का भजन क्यों नहीं रुचता ?

सुण सुण रे म्हारा लोभी मनड़ा, प्रभुरो भजन तनैं कब भावे ।टेर ॥
रकम रकम रा भोजन भावे, रुचि रुचि भोग लगावे मनड़ा ॥१ ॥
उजला उजला वस्त्र पहरे, छैल छबीलो बन जावे मनड़ा ॥२ ॥
लोग दिखावण मंदिर जावे, मोटा मोटा तिलक लगावे मनड़ा ॥३ ॥
काया माया धन धरती रो, माटी में माटी मिल जावे मनड़ा ॥४ ॥
झूठो बोले झूठो तोले, जैन में कैन क्यूं मिलावे मनड़ा ॥५ ॥
चतुर चेत कर चाले जग में, मूरख जनम क्यूं गमावे मनड़ा ॥६ ॥
पारस चरन परस जब पावे, लोहा कंचन बन जावे मनड़ा ॥७ ॥

ऐसा योगी क्यों न अभय पद पावै

ऐसा योगी क्यों न अभयपद पावै, सो फिर भव में न आवै ॥ऐसा० ॥ टेर ॥
संशय विभ्रम मोह-विवर्जित स्वपर-स्वरूप लखावै ।
लख परमातम चेतन को पुनि कर्मकलंक मिटावै ॥१ ॥ ऐसा० ॥
भव तन भोग विरक्त होय तन, नग्न सुभेष बनावै ।
मोह विकार निवार निजातम-अनुभव में चित लावै ॥२ ॥ ऐसा० ॥
त्रस स्थावर-वध त्याग सदा, परमाददशा छिटकावै ।
रागादिवश झूंठ न भाखै, तृण हू न अदत्त गहावै ॥३ ॥ ऐसा० ॥
बाहर नारि त्यागि अंदर, चिदब्रह्म सुलीन रहावै ।
परमाकिंचन धर्म सार सो, द्विविध प्रसंग बहावै ॥४ ॥ ऐसा० ॥
पंचसमिति त्रय गुप्ति पालते, व्यवहार-चरण मग धावै ।
निश्चय सकल कषाय रहित ह्वै, शुद्धातमथिर थावै ॥५ ॥ ऐसा० ॥
कुंकुमपंक, दास रिपु तृण मणि, व्यालमाल सम भावै ।
आर्त्त रौद्र कुध्यान बिडारे, धर्म-शुक्ल कौ ध्यावै ॥६ ॥ ऐसा० ॥
जाके सुख समाज की महिमा, कहत इन्द्र अकुलावै ।
'दौल' तास पद होय दास जो, अविचल ऋद्धि लहावै ॥७ ॥ ऐसा० ॥

जैनधर्म एवं दर्शन पर शिक्षण शिविर का अनुपम आयोजन

इन्दौर—जैन शिक्षण संयोजन समिति के तत्त्वावधान में इस वर्ष भी ग्रीष्मावकाश समय १५ दिन उत्तम ढंग से चलाया गया, नगर के अनेक भागों में सब साधर्मी इस योजना का पूरा-पूरा लाभ ले सकें, इस हेतु से शिक्षण वर्ग में विभिन्न स्थानों पर १६ वर्गों के माध्यम से प्रतिदिन १२०० स्त्री-पुरुष, बच्चों ने इस धार्मिक कक्षाओं द्वारा लाभ प्राप्त किया। वर्ग की कक्षाओं में मोक्षमार्गप्रकाशक, जैन सिद्धांत प्रवेशिका, प्रश्नोत्तरमाला, बालपोथी, छहढाला पढ़ाया गया, अपना अमूल्य समयदाता पंडित हुकमचंदजी शास्त्री अशोकनगर, पंडित चीमनभाई सोनगढ़, पंडित ब्रह्मचारी धन्यकुमारजी (सिरपुर), पंडित रतनलालजी शास्त्री विदिशा, पंडित नाथुलालजी शास्त्री इंदौर, पंडित नेमीचंदजी रखियाल, ब्रह्मचारी राजारामजी, ब्रह्मचारी भवरलालजी तथा श्री उत्तमचंदजी भारिल (इंदौर)।

(१) प्रौढ़ों एवं तरुण स्त्री-पुरुषों के वर्ग— प्रात: ७.०० से ८.००, रात्रि को ७.०० से ८.००।

(२) प्रवचन—८.०० से ९.००

(३) बाल विभाग के वर्ग—दोपहर १.०० से २.००

(४) महिला वर्ग—दोपहर १.०० से २.००

(५) तत्त्वचर्चा—दोपहर २.०० से ३.००

(६) प्रौढ़ वर्ग—रात्रि ७.०० से ८.००

(७) प्रवचन— रात्रि ९.०० से १०.००

शिविर के दिनों में प्रवचन तथा तत्त्वचर्चा हेतु जैनधर्म एवं दर्शन के दो प्रसिद्ध विद्वान पंडित बाबूभाई फतेपुर तथा श्री खेमचंदभाई शेठ सोनगढ़ पधारे थे। दोनों विद्वानों ने क्रमश: आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी कृत मोक्षमार्गप्रकाशक में से सर्वज्ञ वीतराग कथित नय विभाग की यथार्थता नयाभास और तत्त्वार्थों का स्वरूप और तत्त्व संबंधी भूलों को विशदता से समझाया तथा रात्रि के प्रवचन में समयसारजी शास्त्र द्वारा आध्यात्मिक तत्त्व का विशद विवेचन किया। हजारों धर्म जिज्ञासु ने लाभ उठाया, तत्त्वचर्चा के समय सभा में विद्वानों ने सम्मिलित होकर अनेक शंका-समाधान द्वारा जिज्ञासा और तत्त्व निर्णय प्रगट किया। खंडवा, सनावद, महिदपुर, उज्जैन, भोपाल आदि स्थानों से काफी साधर्मियों ने इंदौर में रहकर लाभ लिया।

शिक्षण शिविर की उद्घाटन विधि तारीख ३० मई को पंडित श्री नाथूलालजी शास्त्री की अध्यक्षता में पंडित बाबूभाई (फतेपुर) द्वारा हुई। उस समय प्रो० जमनालाल जैन ने सभा में तत्त्वज्ञान की आराधना के इस १५ दिन के ज्ञानयज्ञ पर्व में तटस्थ दृष्टि से जिज्ञासु के रूप में एकत्र होकर लाभ लेने की नगर के सभी जिज्ञासुगण को प्रार्थना की, आमंत्रित किया। पंडित बाबूभाई तथा पंडित नाथूलालजी शास्त्री ने भी इस अलौकिक आयोजन में निर्मल तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हेतु जन समूह को प्रेरित किया। सौभाग्य से इस श्रुतज्ञान की विशेष आराधना के अवसर पर जेठ सुदी ५ श्रुत पंचमी पर्व का पुनीत महोत्सव आया, इस पुनीत पर्व को सामूहिकरूप से एक वृहत् उत्सव के रूप में समिति के द्वारा सम्पन्न किया गया। इस अवसर पर पंडित नाथूलालजी शास्त्री, पंडित खेमचंदभाई, पंडित बंशीधरजी शास्त्री न्याय अलंकार, पंडित हुकमचंदजी शास्त्री, ने श्रुतज्ञान के प्रणयन तथा महत्व पर उत्तम विचार प्रगट किये। अपने अध्यक्षीय भाषण में जयपुर निवासी सद्धर्मप्रेमी श्री पूरनचंदजी गोदिका के सभापतित्व में यह पर्व विशेष हर्षोल्लास पूर्ण वातावरण में आयोजित किया गया। अपने अध्यक्षीय भाषण में श्री गोदिकाजी ने शिक्षण शिविर के माध्यम से ज्ञान प्रचार के महत्व पर प्रकाश डालते हुए नियमित विशेष स्वाध्याय के लिये सबको प्रेरणा दी।

प्रो० जमनादासजी ने अंतिम दिन सभी विद्वानों को तथा दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रगट की; संपूर्ण कार्यक्रम की रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए इस समिति द्वारा इंदौर नगर में नियमित स्वाध्याय के कार्यक्रम को सुचारूरूप से आयोजित करने का निश्चय प्रगट किया, पश्चात् समिति के सभापति श्री रतनलालजी द्वारा पुष्पहार से अतिथि विद्वानों का स्वागत किया गया। इस अवसर पर शिक्षण कक्षा के बालकों को पाठ्य-पुस्तक भेंटस्वरूप में पंडित श्री खेमचंदजीभाई के कर कमलों द्वारा दिये गये। अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए पंडित खेमचंदजीभाई ने शिक्षण शिविर के सफलतापूर्वक आयोजन पर संतोष व्यक्त किया। उपस्थित सभी को प्रतिदिन स्वाध्याय, तत्त्वचर्चा के कार्यक्रमों में संलग्न रहते हुए दुर्लभ मनुष्य जन्म को सार्थक बनाने की प्रेरणा की। ब्रह्मचारी राजारामजी तथा ब्रह्मचारी भँवरलालजी ने भी उसी महत्व पर बल दिया, अंत में शिक्षण समिति के मंत्री ने सभी सहयोग दाताओं का आभार प्रगट किया।

(पूनमचंद छाबड़ा)
मंत्री-जैनधर्म शिक्षण संयोजन समिति, इंदौर

जैन शिक्षण वर्ग

राघौगढ़ (म.प्र.) यहाँ तारीख १५ जून से धर्म शिक्षण प्रारंभ हुआ। जिसमें पंडित धन्नालालजी लश्कर जो बड़ी पवित्र प्रतिष्ठा प्राप्त और जैनधर्म के मर्मज्ञ विद्वान गृहस्थ हैं, आपके द्वारा समयसार, मोक्षमार्गप्रकाशक, छहढाला पर प्रवचन होते थे, तथा शिक्षण वर्ग भी। द्रोणगिरि से ब्रह्मचारी नाथूरामजी शास्त्री तथा ब्रह्मचारी भंवरलालजी द्वारा प्रवचन तथा जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला आदि प्रातः ७.०० से ८.०० तक। दोपहर को महिला समाज में १.०० बजे से सूत्रजी, २.०० से ३.०० बजे तक पंडितजी द्वारा छहढाला, शाम ७.०० से ९.०० प्रवचन-तत्त्व चर्चा, प्रश्नोत्तर आदि। श्री कानजीस्वामी का प्रवचन प्रतिदिन १ घण्टा टेपरील द्वारा सुनाया जाता था। इसप्रकार १६ दिन तक शिविर का कार्यक्रम चलाया गया।

ब्रह्मचारी नित्यानंद शास्त्री, द्रोणगिरि
सुशीलचंद जैन, राघौगढ़।

शिक्षिण शिविर हुये

कोटा, राघौगढ़, भोपाल तथा विदिशा में भी जैन शिक्षण शिविर कक्षायें सुचारुरूप से इस ग्रीष्मावकाश के समय चालू की गई थी। बड़ी संख्या में जिज्ञासुओं ने जैन तत्त्वज्ञान का लाभ लिया।

(सायला) राजस्थान में वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव सानंद सम्पन्न

परम कृपालु सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी की सत् प्रेरणा से यहाँ के जिज्ञासु मुमुक्षुओं की काफी लम्बे समय से यह भावना थी कि यहाँ दिगम्बर जैन मंदिर हो और श्री वीतराग प्रणीत जैन सिद्धांत का घर-घर में प्रसार एवं प्रचार हो। यह कार्य प्रतिष्ठाचार्य श्री गेंदालालजी के तत्त्वावधान में बैसाख सुदी १०वीं, दिनांक १९-५-६७ के दिन सानंद अत्यंत हर्षोल्लास के साथ सम्पन्न हुआ। आस-पास के गाँवों से कई मुमुक्षु भाई इस शुभ अवसर पर पधारे थे, बड़ा ही धर्मोत्साह रहा एवं अपूर्व धर्म प्रभावना हुई।

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल
सायला (राजस्थान)

भोपाल में जैन शिक्षण शिविर सम्पन्न

यहाँ तारीख ८ जनू से २२ जून तक म०प्र० मुमुक्षु मंडल द्वारा शिविर का आयोजन किया गया। जिसमें प्रतिदिन तीन बार १-१ घंटा तीन-तीन वर्गों में कक्षा लगती थी, उपरांत खास आमंत्रित वक्ता श्री पंडित चिमनलालजी (सोनगढ़), श्री पंडित नेमीचंदजी (रखियाल) द्वारा क्रमशः सवेरे १ घंटा, रात्रि को १ घंटा धार्मिक प्रवचन रखा गया था। इन विद्वानों के अतिरिक्त ब्रह्मचारी श्री राजारामजी, ब्रह्मचारी श्री धन्यकुमारजी (शिरपुर, कारंजा), ब्रह्मचारी हेमराजजी (उदयपुर) अच्छी शैली से मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, छहढाला, प्रश्नोत्तरमाला, लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका, बालपोथी चलाते थे। हमेशा कक्षाओं में उपस्थिति ५००-६०० हो जाती थी। उत्तीर्ण विद्यार्थियों को पारितोषक भी वितरण किया गया।

रतनलाल सोगानी

मंत्री-भोपाल दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल

विदिशा (म०प्र०) में भी शिक्षण वर्ग १५ तक चला था। वहाँ श्री धन्नालालजी लश्कर निवासी को आमंत्रण द्वारा बुलाया गया था और उपरोक्त ब्रह्मचारीगण भी पधारे थे।

अविरत सम्यग्दृष्टि को मोक्ष के कारणरूप चारित्र (जघन्य स्वरूपाचरण चारित्र) होता है।

आधार— श्री पुरुषार्थसिद्धयुपाय, गाथा १७१ में स्पष्ट कहा है कि—

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारण गुणानाम्।
अविरत सम्यग्दृष्टिः विरताविरतश्च सकलविरतश्च॥१७१॥

अन्वयार्थ : [**मोक्षकारणगुणानाम्**] मोक्ष के कारणरूप गुणों का अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप गुणों का [**संयोगः**] जिसमें संयोग हो ऐसे [**पात्र**] पात्र [**अविरत सम्यग्दृष्टिः**] व्रतरहित सम्यग्दृष्टि [**च**] और [**विरताविरतः**] देशव्रती [**च**] और [**सकल विरतः**] महाव्रती [**त्रिभेदम्**] तीन भेदरूप [**उक्तम्**] कहा है।

नया प्रकाशन

जयपुर (खानियां) तत्त्वचर्चा भाग १-२

बड़े आकार के दो पुस्तक पृष्ठ संख्या ८५०, मूल्य १६-०, पोस्टेजादि अलग, प्रकाशक टोडरमल स्मारक ग्रन्थमाला, ठि० पंडित टोडरमलजी स्मारक भवन, बापूनगर, प्लोट नं० ए-५, जयपुर। आचार्य श्री शिवसागर मुनि महाराज के सामने दो पक्ष के विद्वानों द्वारा जो लिखित चर्चायें हुई थीं, वही इस ग्रंथ में छपवा दी हैं। मध्यस्थ होकर जिज्ञासुगण स्वतंत्रतया निर्णय करें।

आत्मधर्म के ग्राहकों से निवेदन

आत्मधर्म मासिक पत्र द्वारा सर्वज्ञ वीतराग कथित दिगम्बर जैनाचार्यों द्वारा जो निर्मल तत्त्वज्ञान प्रगट हो चुके हैं, उनकी परंपरा से ही यह प्रचार होता है। नयी बात नहीं है स्वाश्रय से ही पवित्र मोक्षमार्ग और उसका फल तथा उससे विपरीतता में बंध मार्ग और उसका फल संसार होता है, इस महान सिद्धांत को समझ ले तो स्वसन्मुखता और सच्चा भेदविज्ञान होता है। आत्मधर्म के ग्राहकों की संख्या २५०० उपरान्त हो चुकी है। आगामी चैत्र मास में वार्षिक शुल्क (चंदा) पूर्ण हो जाता है। और वैशाख मास से नया वर्ष शुरु होता है, उसे याद करके शीघ्रता से मनिआर्डर द्वारा या हरेक गाँव में जितनी संख्या में ग्राहक हों, एक साल के तीन रुपये के हिसाब से एकत्र करके प्रथम से ही रुपया भेज दीजियेगा। वी.पी. करने में व्यर्थ ८५ पैसे खर्च और अनेक कठिनाई रहती है। चंदा भेजते समय आपके चालू ग्राहक नंबर और पता स्पष्ट लिखियेगा। जो भाई बहुत पीछे से चंदा भेजते हैं, और दो मास बाद ग्राहक बनते हैं, उन्हें अंक की कमी पड़ जाने से पूर्व के अंक नहीं भेज सकते हैं। अतः सर्वज्ञ वीतराग कथित पवित्र ज्ञानयज्ञ में सहयोग देकर अपने परिचितों को ग्राहक बनाकर ग्राहक संख्या बढ़ाने की प्रार्थना है। अब की बार आत्मधर्म का वार्षिक चंदा-तीन रुपया वार्षिक रखा है।

श्री टोडरमल ग्रंथमाला जयपुर के

नये प्रकाशन

१.	श्री टोडरमल जयन्ती स्मारिका	२)
२.	जयपुर (खानियां) तत्त्वचर्चा, भाग १ व २, महत्त्वपूर्ण बड़ा ग्रंथ	१६)
३.	अध्यात्म संदेश (टोडरमलजी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी पर विस्तृत प्रवचन)	१)५०
४.	मोक्षमार्ग प्रगट करने का उपाय तत्त्व निर्णय	)१५
५.	शास्त्रों का अर्थ करने की पद्धति	)२०
६.	मोक्षमार्गप्रकाशक	२)
७.	पद्मनंदी पंचविंशतिका में से ऋषभ जिनस्तोत्र सार्थ	.....
८.	पंडित टोडरमलजी का परिचय	.....
९.	अमृत वाणी	.....

उपरोक्त ग्रंथ जयपुर में दिनांक १३-३-६७ को टोडरमल स्मारक भवन के उद्घाटन अवसर पर प्रकाशित हुए हैं, स्वाध्यायप्रेमी मुमुक्षु बन्धुगण उक्त ग्रंथ मँगाकर ज्ञान यज्ञ में सहयोग देवें।

मंगाने का पता—

भँवरलाल शाह

ठि० चित्तरंजन मार्ग, सी. स्कीम, शांतिनिवास

जयपुर (राजस्थान)

मोक्षमार्गप्रकाशक (आधुनिक हिन्दी भाषा में)

आचार्यकल्प श्री पंडित प्रवर टोडरमलजी कृत यह उत्तम रचना है। मूल स्वहस्त लिखित प्रति द्वारा अक्षरशः अनुवाद कराके, मिलान कराके, बड़े भारी श्रमपूर्वक और अपूर्व उत्साह द्वारा यह प्रकाशन छप चुका है और पंडित जी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी तथा कविवर पंडित बनारसीदासजी कृत परमार्थ वचनिका; निमित्त-उपादान चिट्ठी यह तीन अधिकार भी मूल प्रतियाँ प्राप्त करके प्रकाशन में लगा दी हैं। प्रथम से ही इनके १०५०० संख्या के ग्राहक हो चुके हें। वे सब साधर्मीजन तीव्र जिज्ञासा सहित भारी तकादा कर रहे हैं, अब उन्हें आर्डर के माफिक प्रतियाँ शीघ्र ही भेजी जा रही हैं। लागत मूल्य ४.५० हुआ है किंतु इसका उत्तम ज्ञान प्रचार हेतु मात्र २) मूल्य रखा गया है। जिन्हें पुस्तक चाहिये वे शीघ्रता से नये आर्डर बुक करा देवें।

श्री दिगंबर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचन, जो सर्वज्ञ वीतराग कथित मोक्षमार्ग (सुख का उपाय) समझने के लिये परमोपकारी हैं, उनका अपूर्व यथार्थ लाभ लेने के लिये निम्नोक्त ग्रंथों का —

अवश्य स्वाध्याय करें

श्री समयसार शास्त्र	५-०
अष्टपाहुड़ शास्त्र	प्रेस में
श्री प्रवचनसार शास्त्र	४-०
श्री नियमसार शास्त्र	४-०
श्री पंचास्तिकाय संग्रह शास्त्र	३-५०
समयसार प्रवचन, भाग १-२-३	अप्राप्य
समयसार प्रवचन भाग ४	४-०
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]	
आत्मप्रसिद्धि	अप्राप्य
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तृ०), पृष्ठ-९००	५-०
स्वयंभू स्तोत्र	०-५०
मुक्ति का मार्ग	०-५०
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१-०
'' ''द्वितीय भाग	२-०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला, भाग १,२,३ प्र.	०-६०
योगसार-निमित्त उपादान दोहा, बड़ा टा.	०-१२
श्री अनुभवप्रकाश (दीपचंद्रजी कृत)	०-३५
श्री पंचमेरु पूजा संग्रह आदि	१-०
बृ.दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन पूजा	०-७५
देशव्रत उद्योतन प्रवचन	छपेगा
अष्टप्रवचन (ज्ञानसमुच्चयसार)	१-५०
मोक्षमार्गप्रकाशक (श्री टोडरमलजी कृत) जिसमें पीछे से किसी के द्वारा बढ़ाये कथन शामिल नहीं किये गये हैं, मूल में जो कथन है वही आधुनिक भाषा में	२-०
समयसार कलश टीका (पं. राजमल्लजी पांडे कृत) आधुनिक भाषा में	२-७५
जैन बाल पोथी	०-२५
छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०-१५
छहढाला (नई सुबोध टी.ब.) सचित्र	प्रेस में
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	अप्राप्य
सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	अप्राप्य
जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	अप्राप्य
अपूर्व अवसर अमर काव्य पर प्रवचन प्रवचन और श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा व लघु सामा.	प्रेस में
भेदविज्ञानसार	अप्राप्य
अध्यात्मपाठ संग्रह	४-०
वैराग्य पाठ संग्रह	१-०
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०-१५
स्तोत्रत्रयी	०-५०
लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-२५
'आत्मधर्म मासिक' इस एक वर्ष के लिये	२-०
'' पुरानी फाईलें सजिल्द	३-७५
शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०-१२
जैनतत्त्व मीमांसा	१-०
बृ०मंगल तीर्थयात्रा सचित्र गुजराती में १८) ग्रन्थ का मात्र	६-०
अभिनंदन ग्रंथ	७-०

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)

प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।